युगत्रये पूर्वमतीतपूर्व,
जातास्तु जाता खलु धर्ममल्ला ।
अयं चतुर्थो भवताच्चतुर्थे,
धात्रेति सृष्टोऽस्ति चतुर्थमल्लः ॥

दो शब्द

सन्त और साहित्य जीवन-निर्माण के मुख्य अंग माने गए हैं। सन्तों की संगति में पहुँच कर और साहित्य का स्वाध्याय कर कितने व्यक्तियों ने अपने जीवन का निर्माण किया--यह किसी से परामर्श कर पूछने जैसी बात नहीं है। इस बात की समझ तो प्रत्येक व्यक्ति को समय समय पर अपने आप होती रहती है।

दानव को मानव और मानव को अमर बनाने वाले सन्त जन ही होते हैं। सन्तों का जीवन बड़ा भव्य और विराट होता है। उनमें सदा दिव्य सौन्दर्य भरा रहता है। 'सत्यं' 'शिवं' के साथ 'सुन्दरं' का सुन्दर समागम भी तो सन्तों के जीवन में ही मिलता है।

जिस से हित होता है वह साहित्य कहलाता है। सन्तों के अन्तर्हृदय से उद्गत उदात्त वाणी के सचमुच साहित्य है। सन्तों की सीधी-सादी भाषा ही सर्व-साधारण की हित-साधना कर सकती है, इसलिए उसे 'साहित्य' कहना अनुपयुक्त न होगा। सर्व-साधारण के समझ में आने वाला साहित्य ही गाँवों और नगरों में रहने वाली कोटि कोटि जनता का साहित्य बन सकता है। सन्तों के मुखारविन्द से निःसृत वाणी को प्रत्येक व्यक्ति सरलता से समझ जाता है और उससे वह अपने जीवन का निर्माण भी कर लेता है। इसलिये सन्तों की वाणी ही संसार का सर्वोत्तम साहित्य है।

स्वर्गीय श्रीयुत श्रद्धेय जैन दिवाकरजी महाराज भी एक महान् सन्त थे। सन्त जीवन की सुशोभा उनमें विराजमान थी। उनके उपदेश-बड़े सीधे-सादे सरल और सुमधुर होते थे। वे जहां भी अपना पदार्पण करते, वहाँ उनका उपदेश सुनने के लिये सहस्रों की संख्या में मानव-मेदिनी उमड़ पड़ती थी। आबाल वृद्ध मानव मानवी उनके उपदेश में पूरा २ लाभ उठाते थे। सचमुच वे एक आकंठ- संभृत, सुस्थान संस्थित, पीयूष-पेय-पावन पानीय परिपूरित एक कूप के समान थे। जहाँ बालक-बालिका, युवक-युवती वृद्ध और वृद्धा सभीं यथाभिलषित पानी को प्राप्त कर अपनी चिरन्तन प्यास बुझा सकते थे।

प्रस्तुत पुस्तक उन्हीं महान् सन्त की वाणी से संकलित साहित्य का एक मूर्तरूप है। इसका नाम दिवाकर दिव्य-ज्योति है। इस 'ज्योति' के नौ भाग पहले प्रकाशित हो चुके हैं। यह उसका दसवां भाग है। पहले के भागों की तरह इस पुस्तक में भी श्री जैन दिवाकरजी महाराज के प्रवचनों का संकलन किया गया है। पहले के विभागों से जैसे जिज्ञासुओं ने लाभ उठाया है, उसी प्रकार इस विभाग से भी जिज्ञासुगण अधिक से अधिक लाभ उठावें—यही इस हृदय की मंगल कामना है।

'जैन स्थानक'
पिपलिया बाजार, ब्यावर
दिनांक २१-१-५५

मिश्रीमल मुनि 'मधुकर'
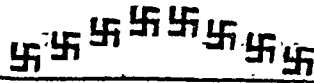
卐卐卐卐卐卐卐卐

विषयानुक्रमणिका

卐卐卐卐卐卐卐卐

१

सन्त-समागम

स्तुति :-

नित्योदयं दलितमोहमहान्धकारम्,
गम्यं न राहुवदनस्य न वारिदानाम् ।
विभ्राजते तव मुखाब्जमनल्पकान्ति,
विद्योतज्जगदपूर्व शशाङ्कबिम्बम् ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं कि-हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त शक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवान् ! आपकी कहां तक स्तुति की जाय ? हे प्रभो ! आपके कहां तक गुण गाये जाएं ?

प्रभो ! आपका मुख-कमल जगत् में अपूर्व चन्द्रमा के समान देदीप्यमान हो रहा है । उसका नित्य-निरन्तर उदय रहता

है, मोहरूपी महान् अन्धकार को नष्ट करने वाला है, वहाँ तक राहु के मुख की और मेघा की पहुँच नहीं है-ये उसकी कान्ति को फीका नहीं कर सकते। ऐसे अद्भुत मुल-चन्द्र जिनका है उन्हीं भगवान् ऋषभदेव को हमारा बार-बार नमस्कार हो।

भाइयों ! भगवान् ऋषभदेवजी की तरह सभी तीर्थङ्करों को समझना चाहिए। उन्होंने जगत् को सच्चा मार्ग बतलाया है। तीर्थङ्कर भगवान् दीक्षा लेकर जब साधु-अवस्था अंगीकार करते हैं, तब भी और जब तक छद्मस्थ रहते हैं तबतक उपदेश नहीं देते। ऋषभदेवजी एक हजार वर्षों तक साधना ही करते रहे। महावीर स्वामी साढ़े बारह वर्ष तक तपस्या में ही लीन रहे। जब उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई तभी उपदेश देना आरम्भ किया। पूर्ण ज्ञान प्राप्त होने से पहले जो बात कही जाती है, वह प्रमाणिक नहीं भी होती। आज कोई विद्वान् पुस्तक लिखता है और उसे प्रकाशित करा देता है। जब पुस्तक का दूसरा संस्करण निकलने लगता है तो उसमें काट छांट कर देता है और तीसरी बार फिर उसमें फेरफार करता है। परन्तु केवलज्ञानी के वचनों में कभी परिवर्त्तन नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें त्रुटि नहीं हो सकती। उसकी बात किसी की समझ में आए अथवा न आए, यह तो उस के ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम पर निर्भर है। क्षयोपशम अच्छा होगा तो बात समझ में आ जायगी और क्षयोपशम न होगा तो नहीं आएगी। परन्तु इतने मात्र से तीर्थङ्कर के वचन में अन्यथापन नहीं आ सकता है।

इस जगत् में जितने भी तीर्थङ्कर हो गए हैं, सब ने एक समान ही रास्ता बतलाया है। सब का उपदेश एक ही है, क्यों

उनके ज्ञान में पूर्णता होती है। अन्तर पडता है ज्ञान की अल्पता के कारण, जहाँ पूर्णता है वहाँ कोई अन्तर नहीं, मतभेद नहीं, त्रुटि नहीं, भूल नहीं हो सकती।

एक बैरिस्टर किसी फरीक को मसविदा लिखकर देता है और कहता है कि जाओ, तुम मुकदमा जीत जाओगे। फरीक जाता है और जब सामने दूसरा बैरिस्टर खड़ा होता है तो वह उस मसविदे की धज्जियाँ उड़ा देता है यद्यपि यह ठीक हो सकता है कि पहले बैरिस्टर ने अपनी समझ में कोई त्रुटि नहीं रहने दी, किन्तु दूसरा जब उसमें त्रुटियां निकालता है तो मानना पड़ेगा कि कहीं कोई त्रुटि रह ही गई है। इसका कारण बैरिस्टर का अपूर्ण ज्ञान है। जितने भी अपूर्ण ज्ञानी होंगे, उससे त्रुटि हो ही जायगी। इसी कारण तीर्थङ्कर देव पूर्ण ज्ञान प्राप्त होने पर ही धर्मोपदेश देते हैं। जब तक उन्हें कैवल्य न प्राप्त हो जाय, वे उपदेश नहीं देते। यही कारण है कि उनकी वाणी त्रिकाल अबाधित है, ध्रुव सत्य है। उसमें कभी अन्तर आया नहीं और आयेगा भी नहीं। जैसे दो और दो चार होते हैं, यह ध्रुव सत्य था और रहेगा, उसी प्रकार तीर्थङ्करों ने जो मार्ग बतलाया है, वह भी ध्रुव सत्य है।

भगवान् ने बतलाया है कि दो बातें एक साथ नहीं रह सकतीं। वे दो बातें कौन सी है ? सुनिये —

ब्रह्मज्ञान और विषयवासना, एक ठौर नहीं पाते हैं।
चोर शाह, दो तेग म्यान में हरगिज नहीं समाते हैं ॥

दो बातें एक साथ नहीं हो सकतीं। माल भी खाना-मौज

भी उड़ाना और वैकुंठ भी जाना ! भाई, साधु बन कर ब्रह्मज्ञान-आत्मज्ञान भी प्राप्त कर लो और मौज भी उड़ा लो, यह एक साथ नहीं बन सकता । आत्मज्ञान प्राप्त करना है तो मजा-मौज छोड़ कर साधना करनी चाहिए और मजा-मौज करनी है तो आत्म-ज्ञान से वंचित रहना पड़ेगा । या तो योग रहेगा या भोग रहेगा । दोनों की साथ-साथ नहीं निभ सकती । लाल मिर्च की आँखों के साथ नहीं बनती । कोई स्त्री पतिव्रता भी रहना चाहे और कुशील का सेवन भी करना चाहे तो कैसे उसका पतिव्रत निभेगा ? कोई आदमी बेईमानी भी करता रहना चाहे और लोगों में तारीफ भी चाहे तो किस प्रकार सम्भव हो सकता है ? चोरी करने वाला साहूकार नहीं रह सकता और साहूकार बनने की इच्छा करने वाला चोरी नहीं कर सकता । एक म्यान में दो तलवारें नहीं समा सकतीं । भाई, या तो दुनिया के मुजे लूट लो या ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लो । दोनों करना चाहोगे तो नहीं कर सकोगे ।

मनुष्य का मस्तिष्क और हृदय कभी-कभी परस्पर विरोधी बतलाने लगता है । मस्तिष्क कहता है,ईश्वर की ओर जाओ ...र हृदय कहता है कि दुनिया की मौज लूटो । प्रायः मनुष्य इन दोनों के झगड़े में पड़ कर सत्य की राह से चूक जाता है । कदाचित् मस्तिष्क की बात मान कर सत्य की ओर आकर्षित होता भी है तो —

ज्ञानी के आश्रय में जब जन मुक्तिहित आने लगते हैं ।
ज्ञानाभिमान में चूर हुए तब ज्ञान ध्यान सब भगते हैं ॥

किसी ने सोचा—चलो भाई, ज्ञानी का आश्रय लो ।

ज्ञानी की सेवा करने से कुछ लाभ होगा। मुक्ति का मार्ग मिलेगा, साधना की राह दिखलाई देगी। यह सोच कर वह ज्ञानी की शरण में गया। यही सोच कर और-और लाग पहुँचे। अपनी शरण में लोगों को आते देख कर ज्ञानी फूला न समाया। उसने सोचा मैं ऐसा ज्ञानी हूँ कि लोग मेरे चरणों में नतमस्तक होते हैं। मैं सर्वपूजित बन गया हूँ! इस प्रकार सिर पर अहंकार सवार हो गया तो सारा गुड़ गोबर हो गया! उसके भी ज्ञान-ध्यान भाग गये। यह अहंकार बड़ा भारी दुर्गुण है। नाना रूपों में यह मनुष्य को अपने अधीन बनाता है। कलदार बढ़े और अभिमान बढ़ा, बुद्धि खिली कि अभिमान भी खिला। पांच आदमी पूछने लगे कि घमण्ड बढ़ गया। जरा सा गुण आता है तो दुर्गुण भी उसके साथ भागा आता है। किसी को भला आदमी समझकर मुखिया बनाया और वही काटने दौड़ पड़ा!

भाइयों! जो मनुष्य प्रतिष्ठा या पूंजी बढ़ने पर भी समभाव में रहता है, वही उन्नति करता है। जो जरा सा उन्नत होते ही आसमान में उछलने लगता है, उसकी उन्नति तो रुक ही जाती है, वह अवनति के गहरे गर्त्त में भी गिरे बिना नहीं रहता। दुनिया में ऊँचा बनना बड़ा कठिन है। महाराज अगर "घणी खम्मा" में ही राजी हो गये तो उनका कल्याण होना बहुत मुश्किल है। ऊँचा उठने के लिए अभिमान को त्यागना होगा। अभिमान को त्याग देने पर समभाव आता है और जब समभाव आता है तो "समो निंदापसंसासु" अर्थात् निंदा और प्रशंसा में समान भाव आ जाता है। कोई गाली देता हो तो नाराज

और स्तुति करता हो तो राजी नहीं। मान प्रतिष्ठा की आकांक्षा होना भी एक प्रकार की विषयवासना ही है और आत्मज्ञान के साथ उसकी नहीं पट सकती। कबीरजी कहते हैं-

चलती चक्की देख के दिया कबीरा रोय।
दोउ पाट के बीच में साबित बचा न कोय ॥
चक्की चले तो चलने दो पिस पिस मैदा होय।
कीले से लगता रहे तो बाल न बांका होय ॥

कबीरजी किसी गृहस्थ के घर में गये। वहाँ एक मांई चक्की पीस रही थी। गेहुँओं का आटा होते देख कबीरजी रोने लगे और विचारने लगे कि इन दानों को बचने की कोई जगह भी है? तब उन्हें याद आया कि हाँ, है क्यों नहीं। चक्की चलती है तो चलती रहे और गेहूँ अगर आटा बनते हैं तो बनते रहें। अगर जो दाना कीली के पास पहुँच जायगा, उससे चिपट जायगा, उसका बाल भी बांका नहीं हो सकता। इसी प्रकार संसार के समस्त प्राणी विषय-वासना की चक्की में पिस रहे हैं और अपने आत्मिक गुणों का चूरा कर रहे हैं। परन्तु इन सब में जो आत्मा-परमात्मा के निकट पहुँच जाते हैं, उनका कोई कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता। परमात्मा के निकट पहुँच जाने पर मनुष्य में ऐसी क्षमता आ जाती है कि वह निन्दा, अपमान, तिरस्कार को भी अमृत बना कर पी जाता है।

अगर कोई सत्संगति में आता है तो कई लोग उसका पहास करने लगते है। कहते हैं—अजी, यह तो अब बाबाजी

बनेंगे ! भाई, क्यों घर का काम छोड़कर बाबाओं के पल्ले पड़ते हो ! इस प्रकार कहने वाले आप भी डूबते हैं और दूसरों को भी डुबाने की कोशिश करते हैं। मगर जो कीली के पास पहुँच जायगा, वह ऐसी बातों की परवाह नहीं करेगा। वह अपने निश्चय पर अचल-अटल रहेगा। परन्तु दूसरों को पथभ्रष्ट करने वाले अपने कर्मों का फल अवश्य पाएंगे।

आप तो गुमराह हुए फिर औरों को गुमराह करे ।
ऐसे अजाबों से वहां पर मुँह सियाह हो जायगा ॥

आप नरक के द्वार पर खड़ा है, उसमें जाने को तैयार है और दूसरों को भी अपने साथ ले जाने की कोशिश कर रहा है! आप स्वयं बुरे रास्ते पर चल रहा है और दूसरों को भी अपना साथी बनाने का प्रयत्न करता है। किसी तमाखू सूंघने वाले के पास बैठो तो वह न सूंघने वाले को तरह-तरह से ललचाता है और कहता है—अजी देखो तो सही, इत्र वाली तमाखू है। सूंघोगे और छींकें आयगी तो दिमाग खुल जायगा !

संस्कृत साहित्य में भी तमाखू पहुँच गई है। एक कवि कहता है—

बिडौजा पुरा पृष्टवान् पद्मयोनिं,
धरित्रीतले सारभूतं किमस्ति ?
चतुर्भिर्मुखैरित्यवोचद् विरञ्चिः—
'तमाखुस्तमाखुस्तमाखुस्तमाखुः ॥'

पहले किसी जमाने में इन्द्र महाराज ने ब्रह्माजी से पूछा—आपने इतनी बड़ी सृष्टि रची है तो यह तो बतलाइये कि इस भूतल पर सारभूत वस्तु कौन सी है ? तब ब्रह्माजी अपने चारों मुखों से एक साथ, एकदम बोल पड़े –तमाखू, तमाखू, तमाखू, तमाखू !

हिन्दी के भी एक कवि कहते हैं:—

तमाखू का सरड़का, सुणिया स्वर्ग मंझार ।
इन्द्र भी ले वासना, धन मानव अवतार ॥

गाँजा पीने वाले कहते हैं–'जिसने नहीं पी गाँजे की कली, उस लड़के से लड़की भली !'

भाइयों ! कहो, क्या-क्या उक्तियां गढ़ ली हैं लोगों ने ! खुद उलटे रास्ते चलते हैं और दूसरों को भी उसी रास्ते ले जाना चाहते हैं। मगर इन पापों से काला मुँह हो जायगा। धर्म के कार्य में अनेक विघ्न आते हैं और बहुत-से लोग बाधक होते हैं परन्तु ऐसे कामों को कोई नहीं रोकता ! ज्ञानी कहते हैं कि प्रथम तो लोग धर्म के नजदीक आते ही नहीं हैं और कदाचित् कोई आ जाय तो उसे धर्म–विमुख करने वाले बहुत मिल जाते हैं। धर्म–स्थान में क्या मिलता है ?

ज्ञान रूपी गंगा के अन्दर जो जन कोई नहाता है ।
कर्म–मेल से मुक्त होय वह विश्वनाथ बन जाता है ॥

जैसे पानी से स्नान करने से ऊपरी मैल दूर हो जाता है, इसी प्रकार ज्ञान रूपी गंगा में स्नान करने से आन्तरिक मैल—कर्ममैल-दूर हो जाता है। कर्ममैल के हटने पर वह जीव परमात्मपद में प्रविष्ट हो जाता है। विश्वपूजित बन जाता है। जिस सत्संग में जाकर गाँजा पीना सीख जाय, वह वास्तव में सत्संग नहीं है। वह कुसंग है। वह कुसंग से आत्मा का अहित ही होता है। आज दुनिया में ऐसे सत्संग (!) करने वाले बहुत मिलते हैं, जिन्होंने अनेक दुर्व्यसन सीख लिये हैं। मगर ज्ञान गंगा में स्नान करने में तो एक बीड़ी का भी काम नहीं है। जो पुण्यात्मा इस ज्ञान गंगा में स्नान करते हैं, उन्हें अनुपम शान्ति की प्राप्ति होती है। उनके त्रिविध ताप का उपशमन हो जाता है। वास्तव में वही सत्संग कहला सकता है जहाँ ज्ञान की चर्चा होती हो, तत्त्व का विचार होता हो, भगवान् का भजन होता हो या शास्त्र का स्वाध्याय होता हो। वहाँ विषय-वासना को बढ़ाने वाली कोई चीज नहीं हो सकती अथवा नहीं होना चाहिए। सत्संग सम्बन्धी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव सभी शुद्ध होने चाहिए। ऐसा सत्संग करके जो ज्ञान की अपूर्व गंगा में अवगाहन करता है, वही विश्वपूजित बन सकता है।

अध्यात्मज्ञान जो आर्य में है, वह नहीं अनार्य में आया है।
अय जीव ! नासमझ समझ इसे, तू ने मानव भव पाया है ॥

भाइयो ! अध्यात्मज्ञान इसी आर्यदेश में मिलता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि अखिल विश्व में, इसी भारतवर्ष की पवित्र भूमि में, सर्वप्रथम आध्यात्मिक ज्ञान का सूर्य चमका

था। भारतवर्ष अतीत काल में एशिया के सब देशों का धर्मगुरु रह चुका है। भारत के धर्म-प्रचारक विभिन्न देशों में पहुँचे थे और उन्होंने वहां की प्रजा में धर्म और अध्यात्म का प्रकाश फैलाया था। वे प्रचारक उस समय दूर-दूर देशों में गये थे, जब कि यातायात के साधन सुलभ नहीं थे। महीनों और वर्षों में रास्ता तय किया जाता था।

और आज भी क्या स्थिति है? भौतिक दृष्टि से यह देश भले पिछड़ा हो किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से वह आज भी सब से आगे है। आज विनाश के सामने खड़े हुए विश्व को अगर कोई आशा बँधाने वाला देश है तो भारत ही है। भारत की आध्यात्मिक भावना ही संसार को शान्ति प्रदान कर सकेगी। धर्म की उपेक्षा करके संसार कदापि शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता। भारत की प्रकृति धर्ममयी है और पवित्र धर्म का सन्देश भारत से ही मिल सकता है।

आप यूरोपीय देशों में चले जाइए। वहां आपको क्या मिलेगा? वहां अणुबम मिलेगा, जहरीले गैस मिलेंगे, और पिस्तोल मिलेगी। नर-संहार की सामग्री आपको तैयार मिलेगी। मगर अमरता प्रदान करने वाली वस्तु नहीं मिल सकेगी? इसी लिए कहा गया है कि अध्यात्मज्ञान आर्यदेश में ही मिल सकता है, अनार्य देश में नहीं। वस्तुतः आर्य वही जो धर्म की मर्यादा में रहे। जो धर्म की मर्यादा को ही नहीं मानता या उस मर्यादा में नहीं रहता वह आर्य नहीं, अनार्य है।

चौबीसों तीर्थंकर और राम, कृष्ण आदि अवतार सभी

इसी देश में उत्पन्न हुए हैं। उन्होंने अध्यात्मज्ञान का प्रसार किया है। अनार्य देशों में से किसने इनके मुकाबिले का एक भी महापुरुष प्रदान किया है? आर्य देशों का तो यह हाल है कि जो आर्य देशीय वहां विद्याध्ययन के लिए या व्यापार आदि के लिए जाते हैं, उनके भी सदाचार का ठिकाना नहीं रहता। उनके लिए मांस मदिरा का सेवन साधारण बात हो जाती है। किसी का भाग्य और संस्कार ही अच्छे हों तो भले बच जाय। वहां का वातावरण ही ऐसा है। कहा है:—

काजल का कोठरी में कैसे हू सयानो जाय,
काजल को एक रेख लागि है पै लागि है ॥

काजल की कोठरी में घुसने वाला कितना ही चतुर और सावधान क्यों न हो, कितनी ही बचने की कोशिश करे, मगर कहीं न कहीं एक रेखा लगे बिना नहीं रह सकती। इसी प्रकार वहां के वातावरण और खानपान में मांस-मदिरा आदि घृणित पदार्थों से बचना कठिन है।

ज्ञानी पुरुषों का कथन है कि जिसने धर्म श्रद्धा का परित्याग कर दिया है और जिसे ईश्वर के प्रति विश्वास नहीं है, उसकी सोहबत मत करो। ऐसे अनार्य की बात मत मानो। जो ईश्वर और धर्म को नहीं मानता, समझ लो कि उसकी खोपड़ी में भूसा भर गया है। ऐसा आदमी संगति करने योग्य नहीं है।

अनन्त काल भटकी आत्मा फिर भी मुक्ति नहीं पाती है।
ज्ञानी की आज्ञा को पाले, तब छिन में कर्म खपाती है ॥

यह आत्मा अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण कर रही है। लोक का एक भी प्रदेश नहीं बच पाया कि जहां अनन्त वार इसने जन्म और मरण न किया हो। फिर भी अभी तक मुक्ति नहीं मिल सकी। इसका कारण यही है वह ज्ञानी की आज्ञा में नहीं चलती। ज्ञानी की आज्ञा में चले विना मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। जिस किसी आत्मा ने मुक्ति पाई है, ज्ञानी की आज्ञा में चल कर ही पाई है। पूर्ण रूपेण ज्ञानियों की आज्ञा की आराधना करने पर मुक्ति प्राप्त होने में विलम्ब नहीं लगता। ज्ञानी की संगति का प्रभाव ही ऐसा है।

एक बार संयति राजा जंगल में शिकार खेलने गया। उसने हिरनों के यूथ में से एक हिरण को तीर मारा। हिरन घायल होकर भागा और एक पेड़ के नीचे, जहां एक मुनिराज ध्यान में लीन थे, जाकर गिर पड़ा। उसने प्राण त्याग दिये। उसके पीछे-पीछे घोड़े पर सवार राजा भी वहां जा पहुँचा, इस विचार से कि हिरन को उठा कर ले जाऊँ। मगर राजा चौकन्ने होते हैं। उसने इधर-उधर दृष्टि घुमाई तो ध्यान मग्न मुनिराज को देखकर स्तब्ध रह गया। वह अपने अनिष्ट की आशंका करके थर-थर काँपने लगा। राजा ने समझा कि यह हिरन इन्हीं मुनिराज का है। मुनिराज क्रुद्ध होकर कहीं शाप न दे दें!

राजा, मुनिराज के समक्ष हाथ जोड़ कर खड़ा हो गया, परन्तु मुनिराज अपने ध्यान में लीन थे। वे आत्मा को स्वरूप में रमण कर रहे थे। अतएव राजा से भी न बोले। राजा की घबरा- और अधिक बढ़ गई। उसने अत्यन्त ही करुण स्वर में जब

क्षमायाचना और अभय की याचना की तो मुनिराज ने अपना ध्यान खोलकर कहा --

> अभओ पत्थिवा तुब्भं, अभयदाया भवाहि य ।
> अणिच्चे जीव लोगम्मि, किं हिंसाए पसज्जति ? ॥
>
> —उत्तराध्ययन, अ. १८, गाथा ११.

हे राजन् ! मैं तुझे अभयदान देता हूँ पर मेरी बात सुन । मुझे देख कर तुझको भय हुआ और अभयदान पाते ही प्रसन्नता हुई। इसी प्रकार यह जंगल के जीव भी तुझे देखकर डरते हैं, अतः तुम भी इन्हें अभयदान दो ! इस अनित्य संसार में सदैव तो बने नहीं रहना है । एक न एक दिन परलोक जाना पड़ेगा । फिर क्यों हिंसा में आसक्त हो रहे हो ?

मुनिराज ने राजा को इस प्रकार समझाया, जिससे उसे ज्ञान हो गया वह वहीं साधु बन गया । शुभ विचार आने पर उसे जातिस्मरण ज्ञान भी हो गया । बाद में तपस्या करके केवल-ज्ञान और केवलदर्शन पाकर मोक्ष में पहुँचा । यह है संगति का प्रभाव ! ज्ञानियों की संगति करने से पापी जीव भी पुण्यात्मा बन जाते हैं और अपना परम कल्याण कर लेते हैं ।

भाइयों ! संसार बड़ा विषम है । जैसे गांव के पास बहुत-सी पगडंडियां होती हैं और अजनबी आदमी को यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि किस पगडंडी से जाना उचित होगा? इसी प्रकार संसार में आत्महित के अनेक पंथ हैं । उन सभी पंथों पर लोग चल रहे हैं और यह दावा भी करते हैं कि हमारे पंथ

पर चलने से ही आत्मा का कल्याण होगा। इस परिस्थिति में साधक पुरुष चक्कर में पड़ जाता है। कभी गलत रास्ता भी अख्तियार कर लेता है। तब हित के बदले अहित हो जाता है। अतएव ज्ञानी पुरुषों की संगति की परम आवश्यकता है। उनकी शरण में चले जाने के पश्चात् पथभ्रष्ट होने की संभावना नहीं रहती। वे आत्महित का अनुभूत मार्ग-जिस पर चल कर उन्होंने आत्म-कल्याण किया है, प्रदर्शित करते हैं। अतएव प्रत्येक मुमुक्षु के लिए यही उचित है कि जब उसके अन्तःकरण में आत्मकल्याण की पवित्र भावना उत्पन्न हो तो वह अपने जीवन को ज्ञानियों के चरणों में सौंप दे और उनकी आज्ञा में ही चले। मुक्ति पाने का यही सरल और सीधा उपाय है।

केवलज्ञानी तीर्थंकरों ने उग्रतम साधना करके परिपूर्ण ज्ञान प्राप्त किया था और फिर जगत् के जीवों के कल्याण के लिए मोक्ष के मार्ग का निरूपण किया था। आज इस क्षेत्र में केवलज्ञानी नहीं है, परन्तु उनके द्वारा प्रदर्शित पथ, शास्त्रों के द्वारा समझा जा सकता है। उसे समझने का प्रयत्न करो। विषय वासना को दूर करो। यह श्रेष्ठतम नरभव पाया है तो श्रेष्ठतम लाभ प्राप्त कर लो। जैसे संयति राजा ने अपने जीवन को कृतार्थ कर लिया, उसी प्रकार तुम भी धर्म की आराधना करके अपना जीवन सफल बनाओ। यह स्वर्ण-अवसर बार-बार नहीं मिल सकता। न जाने कैसे पुण्य के योग से मिल गया है। इस बार प्रमाद न करो। चूको मत। अवश्य तुम्हारा कल्याण होगा।

भविष्यदत्त—चरित—

भाइयों ! पहले कहा जा चुका है कि भविष्यदत्त ने पोतनपुर-नरेश को और राजकुमार को वन्दी कर लिया। इसके पश्चात् पोतनपुर की सेना के जो वड़े-वड़े सरदार थे, वह सब भी वन्दी बना लिये गये। भविष्यदत्त उन सब को लेकर हस्तिनापुर-नरेश के पास पहुंचा। उस समय उसे और हस्तिनापुर के राजा को कितनी प्रसन्नता हुई होगी ? राजा ने भविष्यदत्त का खूब सत्कार किया और स्नेह से गद्गद् होकर अपनी छाती से चिपटा लिया।

अब हस्तिनापुर-नरेश और भविष्यदत्त हाथी पर आरूढ़ होकर नगर में प्रवेश करने को तैयार हुए। बाजे वजने लगे और मंगलगीत गाये जाने लगे। नियमित रूप से सवारी निकाली। राजा और भविष्यदत्त का हाथी बाजार में पहुंचा तो नगर-निवासी पुरुषों ने और नारियों ने दूसरे तीसरे मंजिल से पुष्पों की वर्षा की। जगह-जगह मालाएँ पहनाई गईं। दोनों हाथी पर चन्द्रमा और सूर्य की जोड़ी के समान सुशोभित हुए। इस प्रकार नगर में होकर वे राजमहल में आ पहुँचे।

राजा स्वयं राजनीति का ज्ञाता था। वह राजकीय शिष्टाचार को भलीभांति समझता था। अतएव उसने अपने कर्मचारियों को हिदायत कर दी कि वन्दी वनाये हुए राजा, राजकुमार और सरदारों को किसी प्रकार का कष्ट न होने पावे। सब की सुविधा का यथोचित ध्यान रक्खा जाय।

भाइयों ! कर्मों की गति वड़ी विचित्र है। संसार में रह

कर किसी भी वस्तु का घमण्ड करना योग्य नहीं है। पुण्ययोग से आपको कोई विशिष्ट सुख-सामग्री मिल जाय तो उसे पाकर नम्रता धारण करना चाहिए, अभिमान नहीं करना चाहिए। धन-सम्पत्ति का, ऐश्वर्य का, जाति का रूप का या बल का अथवा अन्य किसी भी वस्तु का अहंकार करना अपने आपको नीचा दिखाने की तैयारी करना है। देखो, पोतनपुर - नरेश ने अपनी प्रभुता का अभिमान किया और जाति का भी अभिमान किया तो वणिक् जाति में उत्पन्न भविष्यदत्त ने उसके अभिमान को चूर्ण कर दिया। उसे बंदी बनना पड़ा और तिरस्कृत होना पड़ा।

भविष्यदत्त अपने पूर्वजन्म के पुण्य का फल भोग रहा है। जो दूसरों को सुख पहुँचा कर आया होगा, वह अनायास ही सुख भोगेगा पुण्य का प्रभाव ही इतना जबर्दस्त होता है कि पुण्यात्मा जिधर कदम रखता है, उधर ही उसे सुख और सम्पत्ति यश और वैभव प्राप्त होता है। भविष्यदत्त को देखो। उसने जहाँ पाँव रक्खा, अपूर्व और अकल्पित सफलता पाई।

भविष्यदत्त प्रसन्नतापूर्वक अपनी हवेली गया। माता-पिता ने अपूर्व आनन्द का अनुभव किया। उनकी सवा हाथ छाती फूल गई। तिलकसुन्दरी के भी हर्ष की सीमा न रही। उसने परम प्रीति प्रदर्शित करके भविष्य का स्वागत किया। अब भविष्यदत्त आनन्द के साथ अपने घर रहने लगा।

एक दिन राजा ने भविष्यदत्त को अपने पास बुलाकर विवाह के सम्बन्ध में विचार किया। विवाह की तिथि निश्चित हो गई। दोनों ओर बड़ी धूमधाम से तैयारियाँ होने लगीं। राजा के

यहां किस चीज की कमी थी। ऐसा पुण्यशाली और सूरवीर दामाद पाकर उसको वहुत आनन्द और सन्तोष था। अतः राजा ने अपनी कन्या के विवाह की जी खोल कर तैयारियाँ की। राज-प्रसाद के सामने, विशाल चौगान में एक सुन्दर मण्डप बनवाया। उसमें जगह-जगह हीरे और पन्ने लगवाये। अत्यन्त सुन्दर चित्रकारी का काम करवाया। मण्डप की रचना ऐसी अद्भुत हुई कि दर्शक अवाक् रह गये। ऐसा मालूम पड़ता था कि यह मण्डप नहीं, स्वर्गलोक का कोई सुसज्जित प्रदेश है!

उधर भविष्यदत्त के घर भी असीम वैभव था। उसी वैभव के अनुरूप वहां भी तैयारियां हुई। विवाह की तिथि आ गई। समय पर पाणिग्रहण की विधि सम्पन्न हुई। राजा ने हथलेवे में अपना आधा राज्य भविष्यदत्त को दे दिया और राजा बना दिया। साथ ही छत्र, चँवर, सुवर्ण निर्मित सिंहासन, हाथी, घोड़े आदि-आदि वैभव भी प्रदान किया। राजा ने सब बरातियों का भी समुचित सत्कार किया।

नववधू को साथ लेकर भविष्यदत्त अपने घर पहुँचा। वधू ने कमलश्री के चरणों में प्रणाम किया। कमलश्री बहुत प्रसन्न हुई! राजा की लड़की उसकी पुत्रवधु बन कर आई और चरणों में गिरी, यह देख कर कमलश्री को कितनी प्रसन्नता हुई होगी, यह तो अनुमान करने की ही चीज है। कमलश्री का आशीर्वाद लेकर वह तिलकसुन्दरी के पास पहुँची। उसको प्रणाम किया। यद्यपि तिलकसुन्दरी हृदय से उदार और विवेक-शालिनी थी, फिर भी नारी-स्वभाव की सहज प्रेरणा ने उसे कुछ उदास बना दिया।

सोत के आगमन से उसे प्रसन्नता नहीं हुई। परन्तु भविष्यदत्त ने आकर उसकी खिन्नता दूर कर दी। थोड़ी-सी देर के लिए तिलका के दिल में जो असहिष्णुता का भाव उदित हुआ था, वह दूर हो गया। फिर तो दोनों में गाढ़ा प्रेम हो गया। समस्त परिवार आनन्द में रहने लगा।

एक दिन तिलकसुन्दरी और सुमति दोनों बैठी-बैठी प्रेम-पूर्ण वार्त्तालाप कर रही थीं। वार्त्तालाप के सिलसिले में तिलक-सुन्दरी ने सुमति से कहा—अपन ने पहले पुण्य उपार्जन किया, इसी के फलस्वरूप आज हजारों आदमी अपना हुक्म बजा रहे हैं। पर कौन जानता है कि यह सुख सदैव इसी भांति बना रहेगा ? हम अपने पति पर अधिकार करती हैं, मगर पुरुषों का क्या भरोसा है ? हम समझती हैं कि हमें सब प्रकार का आनन्द और मौज-मजा है, परन्तु किसे पता है कि यह सब कितने दिनों का है ? बुरा मत मानना बहिन, तुम्हारे ऊपर नहीं कहती हूँ, सिर्फ उदाहरण देती हूँ कि पतिदेव जैसे मेरे रहते तुम्हे ले आये उसी प्रकार हम दोनों के रहते तीसरी को ले आ सकते हैं ! पति-देव कब और किस प्रकार चमकेंगे, कौन जानता है ?

तिलका की बात सुनकर सुमति ने कहा—बहिन आपकी बात सत्य है। स्त्री को चार प्रकार का दुःख और चार ही प्रकार का सुख होता है। पहला सुख सुहाग का, दूसरा पति की प्रसन्नता का, तीसरा सुख सौत न होना और चौथा सुख पुत्र का होना। इनमें से किसी का न होना दुःख है।

यह बात हो ही रही थी कि अकस्मात् भविष्यदत्त वहां आ

पहुँचा। दोनों ने उठ कर अपने पति का सन्मान किया। मगर दोनों के मुख पर कुछ उदासी सी झलक रही थी। भविष्यदत्त ने उस उदासी का कारण पूछा। तब सुमतिकुमारी ने कहा—आप यह बताइये कि बहिन तिलकसुन्दरी में क्या दोष है?

भविष्यदत्त—कोई दोष नहीं।

सुमति—तो फिर आपने मुझ से विवाह क्यों किया? इसी प्रकार अगर आपने फिर तीसरा विवाह किया तो?

भविष्य॰ प्रिये! तुम दोनों निश्चिन्त रहो। मैं जिन-शासन की साक्षी से कहता हूँ कि अब विवाह करने का न तो विचार है और न करूँगा ही।

भविष्यदत्त का यह संकल्प सुन कर दोनों का मन हरा हो गया। जैसे सावन के महीने में वर्षा होने पर प्रकृति खिल उठती है, उसी प्रकार दोनों का चेहरा खिल उठा!

भाइयों! संसार में पति और पत्नी का सम्बन्ध घनिष्ठतम समझा जाता है। इसी कारण संस्कृत में दोनों के लिए एक ही शब्द 'दम्पती' का प्रयोग किया गया है। वास्तव में पति और पत्नी का सुख एवं दुःख दोनों पर निर्भर रहता है। जिस नारी का पति उसे सुखदायी नहीं होता, उसका जीवन भारभूत हो जाता है। भोजन, वस्त्र, आमोद-प्रमोद आदि के समस्त साधन विद्यमान होने पर भी पति-सुख के अभाव में सभी सुख, दुःख रूप बन जाते हैं। इसके विपरीत आनन्द का कोई भी साधन न होने पर भी जिस नारी को पति सुख प्राप्त होता है, वह अपने

को सौभाग्यशालिनी समझती है। बात बहुत अंशों में सत्य भी है। रामचन्द्रजी को वन में जाने की आवश्यकता हुई थी, परन्तु सीताजी से न कोई नाराज था, न उनका वन में जाना आवश्यक था। सभी ने, स्वयं रामचन्द्रजी ने भी समझाया था कि तुम अयोध्या में ही रहो। अयोध्या में सब प्रकार के सुख थे। राजकीय वैभव उनके चरणों में लोटता था। एक दासी को बुलाने पर दस दासियां हाथ जोड़कर आज्ञापालन के लिए दौड़ी आती थीं। सारे परिवार का स्नेह उन्हें प्राप्त था। यह सब त्याग कर सीताजी ने रामचन्द्रजी के साथ वन में जाना क्यों पसन्द किया? अगर तराजू के एक पलड़े पर पतिसुख रख दिया जाय और दूसरे पलड़े पर दूसरे समस्त राजकीय सुख रख दिये जाएँ तो सच्ची पतिव्रता नारी के लिए पतिसुख का पलड़ा भारी प्रतीत होगा। दोनों में से एक की पसन्दगी करने को कहा जाय तो वह पतिसुख को ही पसन्द करेगी। सारांश यह है कि नारी का समस्त सुख पति पर निर्भर है।

इसी प्रकार पति का सुख पत्नी पर निर्भर है। पति कितना ही प्रतिष्ठित, धनाढ्य और प्रभावशाली क्यों न हो, घर में पत्नी अगर कर्कशा है, कलहकारिणी है और रात दिन चख चख करती रहती है तो पुरुष को किंचित भी शान्ति नहीं मिलती। इसके विपरीत बडे से बड़ा संकट आने पर भी पत्नी की ओर से अगर आश्वासन मिलता है, स्नेहपूर्ण तसल्ली मिलती है तो पति को वह बड़ा संकट भी तुच्छ प्रतीत होने लगता है। पति, पत्नी का प्राण है तो पत्नी, पति की शक्ति है। प्राण के अभाव में शक्ति नहीं तो शक्ति के अभाव में प्राण भी कितनी देर टिक सकता है?

अतएव जिन्हें साधु नहीं बनना है और गृहस्थी में रह कर ही अपने धर्म की साधना करनी है, उन पति-पत्नियों का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे एक दूसरे के साथ सहयोग करें, परस्पर अनुकूल होकर चलें एक दूसरे के प्रति प्रामाणिक रहें, दोनों अपने-अपने धर्म का पालन करें और एक दूसरे के धर्म पालन में बाधक नहीं बल्कि साधक बनें।

बहुत-से लोगों ने समझ रक्खा है कि गृहस्थ जीवन तो भ्रष्ट होने के लिए ही है और नरक का द्वार ही है। किन्तु यह विचार एकान्त सत्य नहीं है। गृहस्थ जीवन स्वर्ग का द्वार भी है और नरक का द्वार भी है। जो जैसा बनाना चाहे, उसके लिए वह वैसा ही बन सकता है। आत्महित की सर्वथा उपेक्षा करके, निरन्तर विषय भोग में ही डूबे रहने वाले लोग गृहस्थ जीवन को अभिशाप बना लेते हैं जब कि अपने कर्त्तव्य एवं धर्म को पालने वाले उसे बड़ा वरदान भी बना लेते हैं।

आशय यह है कि पति और पत्नी को अपने अपने कर्त्तव्य का भली भांति पालन करना ही उचित है। पति परस्त्री त्यागी होकर पत्नी के प्रति वफादार बन सकता है और पत्नी पर पुरुष त्यागिनी होकर पति के प्रति प्रामाणिक हो सकती है।

भविष्यदत्त और तिलकसुन्दरी एवं सुमति ऐसे ही आदर्श पति-पत्नी हैं। उन्होंने एक दूसरे के धर्मपालन में सहायता पहुँचाई। मन में कोई बात आई तो मन में ही नहीं रहने । परन्तु उसे निष्कपट भाव से स्पष्ट रूप से कह दिया। समस्त नार आनन्द और सन्तोष के साथ रहने लगा।

कुछ दिन इसी प्रकार व्यतीत हुए । एक दिन भविष्यदत्त सिंहासन पर विराजमान था । उसकी दाहिनी ओर तिलकसुन्दरी और बायीं ओर सुमति बैठी थी । इतने में माता कमलश्री आई । माता को आती देख सब ने उठकर उनका स्वागत किया । भविष्य ने पूछा—माताजी, कहिए क्या आज्ञा है ?

माता कमलश्री को अपने प्रियपुत्र भविष्यदत्त का राजसी वैभव देखकर असीम प्रसन्नता हुई । उसकी छाती फूल गई ! भविष्यदत्त जैसे विनीत और धर्मनिष्ठ पुत्र की यह कीर्ति, प्रतिष्ठा और समृद्धि देखकर माता को कितना आनन्द हुआ, यह बतलाने की शब्दों में शक्ति नहीं है । कमलश्री ने कहा—बेटा भविष्य! तेरी सफलताएँ देख कर मेरा अन्तःकरण अत्यन्त प्रसन्न है । उस दिन राजसभा में तू ने जो भी प्रतिज्ञाएँ की थीं, वे सब पूरी हो गई हैं । तू ने बड़े-बडे प्रचण्ड शक्तिशाली छत्रधारियों को भी जीत लिया है और बन्दी बना लिया है । जन्म तो तेरा वैश्यकुल में हुआ, किन्तु तू किसी भी शूरवीर क्षत्रिय से कम नहीं है । बेटा ! मेरा यह कहना है कि वीरता की शोभा क्षमा से है । तू ने अनेक राजाओं और सरदारों को पराजित करके बन्दी बना रक्खा है, परन्तु उनकी माताएँ और पत्नियां उनके वियोग में बिलख रही होंगी । पति और पुत्र का विछोह स्त्रियों को कितनी मार्मिक पीड़ा पहुँचाता है, यह बात मैं जानती हूँ । मैं दुर्भाग्य से दोनों के विछोह की वेदना को भुगत चुकी हूँ । उन बेचारियों ने कोई अपराध नहीं किया । फिर भी सब से अधिक दुःख उन्हीं को भोगना पड़ रहा है । लिए तू उन सब को अब मुक्त कर दे । यही मेरी इच्छा है ।

भविष्यदत्त ने कहा—माताजी, आपकी दयालुता आपके योग्य ही है। मैंने भी आपसे दया का पाठ पढ़ा है। मैं महाराज से तथा सरदारों से विचार-विनिमय करके शीघ्र ही इस सम्बन्ध में उचित कार्रवाई करूँगा। जो योद्धा बन्दी बनाये गये है, उनके प्रति मेरे हृदय में कोई कटुता नहीं है, द्वेष नहीं है। केवल कर्त्तव्य पालन और नीति की रक्षा करने के लिए ही ऐसा करना पड़ा। अगर उनसे युद्ध न किया जाता तो कितनी बड़ी अनीति होती, यह सहज ही समझा जा सकता है। अब इस सम्बन्ध में जल्दी ही निर्णय करके मैं आपको निवेदन करूँगा।

इसके पश्चात् भविष्यदत्त दरवार में आया। उसने महाराज, धनसार सेठ तथा सरदारों को बुलाया और बन्दी बनाये हुए योद्धाओं के छुटकारे के सम्बन्ध में विचार किया। एक सरदार ने कहा—महाराज! छोड़ देना तो आसान है, पर शत्रु बड़ा प्रबल है। ऐसे प्रबल शक्ति वाले शत्रु को हाथ से जाने देना ठीक नहीं मालूम होता। दूसरे ने कहा अभी उन्हें बन्दी बनाये एक सप्ताह भी नहीं हुआ है। अपनी अनीति का थोड़ा फल तो भुगत लेने दीजिए। फिर छोड़ दीजिएगा। जल्दी क्या है? किसी ने कहा—छोड़ देने में अब क्या हानि है? परन्तु पहले उनसे प्रतिज्ञा करवा लेनी चाहिए कि भविष्य में वे हस्तिनापुर की तरफ आँख उठा कर भी न देखेंगे!

सरदारों के विचार सुन हस्तिनापुर-नरेश ने कहा-यह ठीक है। अगर वे लोग ऐसी प्रतिज्ञा करने को तैयार हों तो छुटकारा देने में कोई हानि नहीं।

भविष्यदत्त बोला–यहां उपस्थित सभी महानुभाव हस्तिनापुर के परम हितैषी हैं और अनुभवी हैं। मैं आप सब की सम्मति का सन्मान करता हूँ। बन्दियों से प्रतिज्ञा करवा लेने में कोई हानि नहीं है, यद्यपि हमें इस बात की परवाह नहीं होनी चाहिए कि आगे चलकर वे क्या करेंगे। अगर उन्होंने फिर हमारे विरुद्ध कदम उठाया तो हस्तिनापुर उन्हें सबक सिखाने के लिए सदैव तैयार है। जैसे उन्होने अपनी करतूत का फल इस बार भोगा है, उसी प्रकार फिर भी भोगना पड़ेगा।

आखिर निश्चत हुआ कि बन्दियों को छोड़ दिया जाय। तदनुसार प्रमुख बन्दी दरबार में बुलवाये गये। सबका यथायोग्य स्वागत किया गया। फिर भविष्यदत्त ने उनसे कहा-व्यर्थ ही हमारे और आपके बीच मनमुटाव हुआ, लड़ाई हुई और आपकी प्रतिष्ठा को कलंक लगा। आप लोगों के प्रति हमारे हृदय में कोई दुष्ट भावना नहीं है आप हमारे मित्र हैं। राजा के पास जो शक्ति होती है वह अन्याय-अत्याचार का निवारण करके प्रजा के कल्याण में लगनी चाहिए, न कि अन्याय करने में और प्रजा का कष्ट बढ़ाने में। हम सब अपने-अपने कर्त्तव्य का प्रामाणिकतापूर्वक पालन करें तो सर्वत्र आनन्द छाया रहे। शक्ति रहे। धर्म का पालन हो।

पोतनपुर नरेश ने कहा-आपका कथन यथार्थ है। वास्तव में मैंने उत्तेजना के वश होकर और शक्ति के मद में उन्मत्त होकर अनीति करनी चाही। अब कभी ऐसा न होगा। आप हमें जीवनदान देंगे तो हम सदैव आपके मित्र बन कर रहेगें।

भविष्यदत्त—ठीक है। अब आप सब मुक्त हैं, स्वतन्त्र हैं। हमारा आतिथ्य स्वीकार करके आप जब लौटना चाहें, अपने देश लौट सकते हैं।

इसके बाद सब बन्दियों को राजा और सरदारों की हैसियत से दावत दी गई। यथोचित वस्त्र आदि से भी उनका सत्कार किया गया। इस अवसर पर भी भविष्यदत्त ने अपनी सद्भावनाएँ प्रकट कीं। कहा—आशा है आप लोग पिछली घटनाओं को बिलकुल भूल जाएंगे और हमें अपना मित्र समझ कर स्नेह बनाए रक्खेंगे। पोतनपुर-नरेश ने उत्तर में कहा—मैं सब की ओर से विश्वास दिलाता हूँ कि हम आपको अपने लिए आधारभूत मानते हैं। आपकी ओर से पूर्ण स्वाधीनता मिल जाने पर भी हम स्वेच्छा से आपके अधीन हो कर रहेंगे। आपने हमारी लाज रख ली है, हमें प्रेम से अपनाया है। इसके लिए हम आपके कृतज्ञ रहेंगे।

इस प्रकार परस्पर एक दूसरे के प्रति सद्भावनाएँ व्यक्त करने के बाद पोतनपुर-नरेश ने अपने देश लौट जाने की आज्ञा माँगी। यथासमय सब विदा हुए।

भविष्यदत्त सुखपूर्वक राज्य का पालन करता हुआ अपना समय व्यतीत करने लगा। समय पाकर तिलकसुन्दरी सगर्भा हुई। खूब खुशी मनाई गई। तिलकसुन्दरी का दोहला हुआ। वह कभी सुन्दर वस्त्राभूषण धारण करके उद्यान में घूमने जाती है और कभी भविष्यदत्त के साथ मनोविनोद के लिए तिलकपुर पाटन चली जाती है। वहाँ दानव मिलता है। वह प्रेम प्रदर्शित करता

हुआ कहता हैं—बेटी, सुखी रहो, सौभाग्यशालिनी रहो। भंडार भरे हैं, जो चाहिए सो ले लो!

भाइयों! जिन्होंने पुण्य का उपार्जन किया है, उन्हें सीधी जोगवाई मिलती है। सब प्रकार की सुख-सामग्री उनको खोजती आती है। जिसने पुण्य का उपार्जन नहीं किया है, उसे कुछ नहीं मिलता।

समय पूर्ण होने पर तिलकसुन्दरी ने पुत्र-रत्न को जन्म दिया। सर्वत्र हर्ष का प्रसार हो गया। मंगलगीत गाये गये। कमलश्री के सुख का पार न रहा। बारहवें दिन अशुचि-निवारण की रीति सम्पन्न की गई। राजकुमार का नाम 'महेन्द्रकुमार' रक्खा गया। लाखों रुपया परोपकार और पुण्य में लगाये गये। कालान्तर में तिलकसुन्दरी ने चार पुत्रों को और जन्म दिया। सुमति के भी एक पुत्र उत्पन्न हुआ। जिसका नाम 'धरणेन्द्र' रक्खा गया। दो कन्याएँ भी उत्पन्न हुईं। इस प्रकार परिवार का विस्तार हो गया। कमलश्री के सुख-सन्तोष का ठिकाना नहीं। पोतों और पोतियों में वह खोई-सी रहती है। फिर भी नियमित धर्मध्यान करने से नहीं चूकती।

८-११-४८ }

सुख का समीचीन पथ

स्तुति :–

किं शर्वरीषु शशिनाऽह्नि विवस्वता वा,
युष्मन् मुखेन्दुदलितेषु तमःसु नाथ ।
निष्पन्न–शालिवन–शालिनि जीवलोके,
कार्यं कियज्जलधरैर्जलभारनम्रैः ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं कि–हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त शक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन् ! आपकी कहां तक स्तुति की जाय ? हे प्रभो ! आपके कहां तक गुण गाये जाएँ ?

प्रभो ! जब आपके मुख रूपी चन्द्रमा से ही जगत् के अन्धकार का विनाश हो गया है तो फिर रात्रि में चन्द्रमा की और

दिन में सूर्य की आवश्यकता ही क्या है? संसार में जब धान पक चुका हो तो जल से भरे बादलों का क्या प्रयोजन है?

तात्पर्य यह है कि भगवान् ऋषभदेवजी का मुख चन्द्र और सूर्य की अपेक्षा भी अधिक प्रकाशमय है। वह जीवों को बाह्य और आन्तरिक प्रकाश देता है। भगवान् ने पहले जो अपूर्व पुण्य उपार्जन किया है, उसी का यह परिणाम है। ऐसे दिव्य और अनुपम प्रकाश से युक्त भगवान् ऋषभदेवजी हैं उन्हीं को हमारा बार-बार नमस्कार हो।

भाइयों! भगवान् के गुणों का पार नहीं है और जो गुण भगवान् में हैं वही इस आत्मा में भी हैं। यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि परमात्मा और आत्मा मूलतः सजातीय हैं, विजातीय नहीं है। अतएव दोनों का मूल स्वरूप एक-सा ही है। परमात्मा में अनन्त ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति आदि जो भी गुण माने गये हैं, वह सभी इस आत्मा में भी हैं। आत्मा में यदि वे गुण शक्ति रूप में भी विद्यमान न होते तो परमात्मा में कहाँ से आ जाते? गुण द्रव्य की भांति नित्य होते हैं। जैसे द्रव्य नित्य और उसके पर्याय अनित्य होते हैं, इसी प्रकार गुण नित्य और गुणों के पर्याय अनित्य होते हैं। इस कथन का आशय यह हुआ कि किसी भी द्रव्य में कोई भी नया गुण उत्पन्न नहीं हो सकता और न पहले से विद्यमान किसी गुण का नाश ही हो सकता है। गुण जिस द्रव्य में जितने हैं, उतने ही रहते हैं। अलबत्ता, उनके पर्यायों में परिवर्त्तन होता रहता है। आत्मा जब तपस्या करके क्षीणकषाय बन जाता है तो उसके ज्ञानगुण के मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि

पर्याय पलट कर केवलज्ञान रूप पर्याय बन जाते हैं। ज्ञानगुण तो ज्यों का त्यों रहता है।

अब प्रश्न किया जा सकता है कि अगर गुण नवीन उत्पन्न नहीं होते तो फिर आत्मा और परमात्मा में क्या अन्तर है? आत्मा में जितने गुण हैं, परमात्मा में भी अगर उतने और वही गुण हैं तो दोनों में भेद क्यों है?

इस प्रश्न का समाधान यह है कि आत्मा और परमात्मा में वास्तव में गुणों का कोई अन्तर नहीं है। जो लोग यह समझते हैं कि आत्मा जब परमात्मा बनता है तो उसमें नवीन-अभूतपूर्व गुण उत्पन्न हो जाते हैं और वह आत्मा से भिन्नजातीय बन जाता है, वे भ्रम में हैं। फिर भी दोनों में अन्तर है। वह अन्तर गुणों का नहीं, गुणों के विकास का है। आत्मा में जो कुछ विकृत रूप मे हैं, आंशिक रूप में हैं, वही गुण परमात्मा में अविकृत रूप में प्रकट हो जाते हैं। शुद्ध स्वरूप में आत्मिक गुणों का प्रकट हो जाना ही परमात्म दशा प्राप्त होना कहलाता है।

आत्मा के गुणों में जो विकास है, वह कर्मों के कारण है। जौहरी की दुकान में रक्खा हुआ हीरा अपनी असली आभा से दमकता है और खान में पड़ा हुआ या खान से निकाला हुआ किन्तु साफ नहीं किया हुआ हीरा मलीन होता है। जब वह मलीन है, तब भी उसमें जौहरी की दुकान के हीरे के समान ही चमक दमक है, मगर मैल के कारण वह आच्छादित है। चमक-दमक उसमें मूल से नहीं न होती तो खराद पर चढ़ाने से कहां से आ जाती? साधारण पत्थर की कितनी ही घिसाई की जाय, उसमें

हीरे की चमक नहीं आ सकती। इसका एक मात्र कारण यही है कि उसमें मूलतः वह चमक है ही नहीं तो प्रकट कहां से होगी ? इसके विरुद्ध हीरा घिसने से चमकने लगता है।

यही बात आत्मा के सम्बन्ध में है। आत्मा खान में दबा हुआ हीरा है और परमात्मा जौहरी की दुकान का चमकता हुआ हीरा है। दोनों समान आभा से सम्पन्न हैं। परन्तु एक तपस्या की खराद पर चढ़ कर अपने असली रूप में आ गया है और दूसरा अर्थात् आत्मा अभी कर्मों के मैल से लिप्त है। यही दोनों में अन्तर है।

आत्मा में मलीनता अनादि काल से है और वह कर्म वर्गणाओं से उत्पन्न होती रहती है। प्रत्येक कर्म कभी आत्मा के साथ बद्ध होता है और अपनी काल मर्यादा समाप्त होने पर अलग हो जाता है, किन्तु कर्मों का प्रवाह बराबर जारी रहता है। इसी कारण अशुद्धता बनी रहती है।

यह कर्म वर्गणाएं किस प्रकार की हैं। जैसे वस्त्र शरीर को ढँक देता है, वैसे कर्म आत्मा को नहीं ढँकते मगर जैसे दूध में पानी मिल जाता है और दोनों एक मेक-से हो जाते हैं, उसी प्रकार आत्म प्रदेश और कर्म परमाणु मिल कर एक मेक-से हो रहे हैं।

अब कहा जा सकता है कि आत्मा के प्रदेश और कर्म-वर्गणा के परमाणु अगर आपस में इस प्रकार मिल गये हैं तो उन्हें अलग-अलग किस प्रकार किया जा सकता है ? इसका

उत्तर यह है कि जैसे अग्नि के निमित्त से पानी जल जाता है और दूध निखालिस हो जाता है, उसी प्रकार तपस्या की तीव्र अग्नि जब प्रज्वलित होती है तो कर्म सब भस्म हो जाते है और आत्मा शुद्ध हो जाता है।

श्रीठाणांगसूत्र के पहले अध्ययन के पहले उद्देशक के पहले ही वाक्य में कहा गया है—'एगे आया।' अर्थात् आत्मा एक है। अगर आत्मा और परमात्मा में मौलिक अन्तर होता तो ऐसा नहीं कहा जा सकता था।

कुछ लोगों का दृष्टिकोण ऐसा है कि विभिन्न शरीरों में स्थित आत्मा की सत्ता अलग-अलग नहीं है। मूलतः समस्त आत्माएँ एक ही हैं। परन्तु बात ऐसी नहीं है। जब एक जीव सुखी होता है तो दूसरा दुखी होता है। एक बीमार होता है और दूसरा नीरोग होता है। इत्यादि कारणों से आत्मा को सर्वथा एक नहीं माना जा सकता, किन्तु एक-जातीय मानने में कोई बाधा नहीं है। एक-जातीय मानने का मतलब यह है कि द्रव्यार्थिक नय, संग्रहनय से आत्मा एक है। मगर याद रखना चाहिए कि एक नय वस्तु के स्वरूप को पूरी तरह नहीं बतलाता है। नय अंश को ग्रहण करता है और एक नय से वस्तु का एक अंश अर्थात् अनन्त धर्मों में से एक ही धर्म जाना जाता है। दूसरे नय से या व्यवहार नय से देखा जाय तो आत्मा अनन्त हैं। जैसे मारवाड़ी शब्द एक है और मारवाड़ के रहने वाले सभी उसमें आ जाते हैं किंतु व्यवहार से देखें तो बहुत हैं। गेहूँ के दाने बहुत हैं, परन्तु सब एक जातीय होने से गेहूं धान्य एक में ही गिना जाता है। इसी प्रकार संग्रहनय से आत्मा एक है किन्तु व्यवहार-नय से अनेक हैं।

निमोनिया हो गया और वह मर गई। जब उसे कुए से निकाला गया तो फिर क्या था ? काम तमाम हो चुका था !

भाइयों ! मूर्ख लोग कभी-कभी गहरी हानि पहुँचाते हैं। वे भलाई करने की इच्छा रखते हुए भी मूर्खता के वश होकर बुराई कर बैठते हैं। इसी कारण लोक में उक्ति प्रसिद्ध है कि नादान दोस्त की अपेक्षा दाना दुश्मन भला होता है ! दुश्मन से मनुष्य सावचेत रह सकता है, मगर दोस्त से सावचेत रहना कठिन है !

तात्पर्य यह है कि जड़ को सुख-दुःख नहीं होता। उसे बुखार भी नहीं चढ़ता। बुखार जीव को ही चढ़ता है। मगर जीव को बुखार चढ़ता हो तो मोक्ष में गये हुए आत्माओं को भी चढ़ना चाहिए। किन्तु उन्हें भी नहीं चढ़ता है। इसका कारण यही है कि क्या बुखार और क्या दूसरी बीमारियां, तभी तक हैं, जब तक आत्मा कर्मों के बन्धन में है। कर्मों की बदौलत ही सब झगड़े हैं। कर्म दूर हो जाते हैं तो किसी भी प्रकार का झगड़ा नहीं रहता, किसी प्रकार की उपाधि नहीं रहती, किसी भी प्रकार का दुःख नहीं रहता।

कपड़ों को साबुन से क्यों धोया जाता है ? इसीलिए कि इनका मैल दूर हो जाय। इसी प्रकार जीव को कर्म रूपी मैल दूर करने के लिए तपस्या करनी पड़ती है और स्वेच्छाकृत दुःख भी सहन करना पड़ता है। तपस्या के साबुन से कर्म-मैल जब दूर हो जाता है तो आत्मा स्वच्छ वस्त्र की भांति निर्मल हो जाता है।

तो संसारी जीव को जितना भी सुख या दुःख होता है, सब कर्मों के संबंध से ही होता है। कर्मों का काम बड़ा जबर्दस्त है। कर्मों को बांधने के लिए कोई खास जगह निश्चित नहीं है। जीव जब कभी और जहां कहीं रहता है, वहीं कर्म उपार्जन करता रहता है। धान खेतों में उपजता है, फल वृक्षों में ही लगते हैं, मगर कर्मों के लिए ऐसी कोई जगह निश्चित नहीं है। जीव सर्वत्र और सर्वदा अनन्तानन्त कर्म परमाणुओं को बांधता ही रहता है। इन्हीं कर्मों की विभिन्नता के कारण संसारी जीवों में विभिन्नता दिखाई देती है। अतएव जीवों की विभिन्नता को देख कर कर्मों का अनुमान होता है, जैसे नदी-नालों में भरा पानी देख कर वर्षा का अनुमान किया जाता है।

कई लोगों को आत्मा के पुनर्जन्म में सन्देह होता है। वे समझते है कि न मालूम आत्मा मृत्यु के पश्चात् फिर जन्म धारण करेगा अथवा नहीं, और जन्म से पहले मौजूद था या नहीं ? उनको कर्म फल की विचित्रता देख कर आत्मा की नित्यता को समझना चाहिए। कहा जा सकता है कि जीव जो भी शुभ या अशुभ कर्म भोगते हैं, वे पूर्व जन्म के ही हैं, ऐसा क्यों माना जाय ? इसी जन्म में किये हुए कार्यों का फल जीव इस जन्म में भोगते हैं, ऐसा मानने में क्या बाधा है ? इस संबंध में शास्त्रों का कथन है कि जीव पूर्व जन्म के ही कर्मों का फल इस जन्म में भोगते हैं, ऐसा कोई नियम नहीं है। पूर्व जन्म के कर्मों के फल भी इस जन्म में भोगते है और इसी जन्म में किये कर्मों का फल भी भोगते हैं। मगर अनेक घटनाएँ हमारे समक्ष ऐसी घटती हैं, जो इस जन्म के कर्मों का फल नहीं कही जा सकतीं। उन्हें पूर्व कर्मों का फल माने बिना कोई चारा नहीं है। कहा है —

नवजात शिशु अंधा रोगी, जब तड़फ-तड़फ मर जाता है।
यदि पुनर्जन्म नहीं मानों तो, यह कौन कृत्यफल पाता है ?

एक शिशु अभी-अभी उत्पन्न हुआ है, किन्तु अंधा है, दूसरा रोगी है और तड़फ-तड़फ कर उसी समय मर जाता है। तीसरा सकुशल सानन्द जीवित रहता है। शिशुओं में इतना भेद क्यों है? क्या यह शिशु अपने इसी जन्म के कर्मों का फल भुगत रहे हैं? नहीं, मानना पड़ेगा कि पूर्वजन्म में उन्होंने जैसे कर्म उपार्जन किये थे, उन्हीं का फल इस जन्म में वे भोग रहे है। पूर्वजन्म के कर्मों का फल माने विना जन्मान्ध और जन्मरोगी होने की संगति नहीं बैठ सकती। अतएव इस सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का एकान्त निश्चय नहीं किया जा सकता।

जो लोग आत्मा को पुनर्जन्म धारण करने वाला नहीं मानते, उन्हें बारीक निगाह से सोचना चाहिए:—

गौ के विपिन में बच्चा होता है वह स्वयं खड़ा हो जाता है।
फिर स्वयं दूध पीने लगता, यह कौन उसे सिखलाता है ? ॥

गाय जंगल में चरने जाती है और वहीं उसके बच्चा हो जाता है। वह थोड़ी सी देर में खड़ा हो जाता है और अपनी माता का दूध पीने लगता है। तो कहो, किसने उसे बतलाया कि यह तेरी माता है, इसके स्तन यहां हैं, स्तनों में दूध है और स्तनों में मुँह लगा कर चूसने से दूध निकल आयगा और दूध पीने से तेरे जीवन की रक्षा होगी ? यह सब बातें सिखलाने वाला कौन वहां होता है ? प्रत्येक बालक को यह सारी बातें कौन समझाता

है ? यह सब देख कर मानना ही पड़ता है कि पूर्व जन्म के अभ्यास से ही यह क्रियाएँ होती हैं। और भी कहा है:—

माता शिशु के मुँह में स्तन दे, नहिं पीने की क्रिया बताती है।
वह पूर्व जन्म के अभ्यास से ही, अनायास आ जाती है ॥

मानाएँ अपने बच्चे के मुँह में स्तन तो दे देती हैं, मगर चबर-चबर करके चूसना दूध खींचना उन बालकों को कौन सिखलाता है ? अगर कोई समझाने की चेष्टा करे भी तो क्या बालक में उस समय इतनी योग्यता होती है कि वह समझ सके ? सच बात तो यह है कि बालक पूर्व जन्म के संस्कारों से प्रेरित होकर स्वयं ही यह क्रिया करता है । पहले जन्म के अभ्यास से अनायास ही उसे ऐसा करना आ जाता है । अतएव आत्मा का पूर्व जन्म और पूर्व जन्म के संस्कारों का अगले जन्म में आना अवश्य मानना चाहिए । जो लोग इन अनुभव सिद्ध युक्तियों को भी हठ पूर्वक स्वीकार नहीं करते हैं, उनके सामने प्रश्न किया जाता है:—

तू स्थित भोगे किस कारण से, कल क्या होगा क्यों नहीं जाने ?
जिस कारण वांछित फल न मिले, घटना का कारण पहिचाने ॥

यह बतलाओ कि तुम लखपति या करोड़पति बने हो, सो किस कारण से बने हो ? अगर तुम्हारा यह खयाल हो कि हम अपनी मेहनत से बने हैं तो तुम्हारी हवेली में काम करने वाले नौकर-चाकर ज्यादा मेहनत करते हैं या तुम ज्यादा मेहनत

करते हो ? अगर नौकर–चाकर ज्यादा मेहनत करते हैं तो वे कंगाल क्यों रह गये ? वे तुमसे भी ज्यादा धनवान् क्यों नहीं बन सके ? यदि अधिक मेहनत से अधिक धनवान् और कम मेहनत से कम धनवान् बनते हैं तो मसनद के सहारे पड़े रहने वाले श्रीमंत क्यों हैं ?

इसके अतिरिक्त देखा जाता है कि एक साथ दो किसान खेती करते हैं या दो व्यापारी व्यापार करते हैं, किन्तु समान परिश्रम करने पर भी दोनों को एक-सा फल प्राप्त नहीं होता । इसका कारण क्या है ? दो चूहे बिल में से निकले और आहार प्राप्त करने के लिए उद्यम करने लगे । एक ने हलवाई की छाब काटी और दूसरे ने सांप की पिटारी काटी । दोनों ने समान रूप से उद्योग किया । मगर फल भी क्या दोनों को समान मिला ? नहीं । जिसने हलवाई की छाब काटी उसे मनमानी मिठाई खाने को मिली । जिसने साँप की पिटारी काटी उसे भूखा साँप गटक गया ! यह भिन्नता किस कारण से हुई ? पूर्वसंचित कर्म के अतिरिक्त और क्या कारण यहां बतलाया जा सकता है ? ऐसी-ऐसी घटनाएँ देखकर समझना चाहिए कि पुनर्जन्म अवश्य होता है और पिछले जन्मों में उपार्जित किये हुए कर्म अगले जन्मों में फल प्रदान करते हैं ।

अजब तमाशा जगत् का देखो नजर यह आ रहा ।
कोई दुशाला कोई गुदड़ा ओढ़ कर है जा रहा ॥

भाइयो ! इस संसार का तमाशा बड़ा विचित्र है कोई तो बहुमूल्य दुशाला ओढ़ कर शान के साथ चलता है और कोई गुदड़ी ओढ़ कर ही किसी तरह अपना जीवन निभा रहा है ।

दुशाला ओढ़ने वाला ज्यादा मेहनत करता है और गुदड़ी ओढ़ने वाला कम, यह कहना अपने आपको धोखे में रखना है। मूल बात तो अपने अपने कर्मों का उदय है। कर्मों की विचित्रता के कारण ही जगत् में यह विचित्रता दिखलाई पड़ती—

एक व्यक्ति के चिथड़े हैं फटे, एक ओढ़े शाल-दुशाला है।
एक चार चने का सवाल करे, एक के नित माल मसाला है।।

एक आदमी सुन्दर और सुसज्जित महल में बैठकर बादाम का हलुवा खा रहा है और दूसरा द्वार-द्वार पर भटकता फिरता है। कहता है—बाबूजी, चार रोज का भूखा हूँ, चार दाने चने के मिल जाएँ! इस तुच्छ-सी याचना के बदले में भी वह झिड़कियाँ खाता है, अपमान सहन करता है और फिर निराश होकर चल देता है। यह सब अन्तर कहां से आया है? इसका प्रधान कारण पुण्य और पाप ही है। अपने किये कर्म ही रंग दिखलाते हैं।

बहुत-से लोग सोचते हैं कि यह भिन्नता सामाजिक व्यवस्था के दोष से उत्पन्न हुई है। हो सकता है कि इसमें एक सीमा तक सचाई हो, परन्तु सामाजिक व्यवस्था में यथेष्ट सुधार कर लेने पर भी प्रत्येक जीवधारी या मनुष्य को सर्वथा समान अवस्था में नहीं लाया जा सकता। जहां साम्यवादी व्यवस्था लागू की गई है, वहां भी भेदभाव मिट नहीं सका है। वहां अनेक प्रकार की भिन्नताएँ विद्यमान हैं और लाख प्रयत्न करके भी उनका समूल उन्मूलन नहीं किया जा सकता। अतएव कर्मफल की सत्ता को स्वीकार किये बिना कोई चारा नहीं है। तुलसीदासजी कहते हैं-

कर्म प्रधान विश्व करि राखा,
जो जस करहि ले तस फल चाखा ॥

सारा ससार कर्म-प्रधान है और जो जीव जैसे कर्म उपार्जन करता है उसे वैसा ही फल भुगतना पड़ता है। यह विधान अटल है और इसमें कदापि किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो सकता। मगर अधिकांश लोग इस सचाई को समझते नहीं है। जो समझते हैं वे भी समय पर भूल जाते हैं। सभी लोग सुख चाहते हैं, समृद्धि चाहते हैं, सब प्रकार की सुविधाएँ चाहते हैं, परन्तु कितने लोग हैं जो उसके लिए अपने कर्त्तव्य पर विचार करते हों ? लोग अच्छा फल चाहते हैं परन्तु अच्छे कर्त्तव्य करने से बचने की कोशिश करते हैं। दुःख उत्पन्न करने वाले कार्य करके सुख पाने की चेष्टा करना वैसा ही है जैसे नमक खाकर मुंह मीठा करने की इच्छा करना। ऐसे लोगों की इच्छाएँ कभी पूर्ण नहीं हो सकती। जिसे सुखी होना है उसे सुख रूप फल देने वाले कार्य करने होंगे।

इस विवेचन से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि सुख और दुःख किसी दूसरे के दिये नहीं होते। आत्मा स्वयं ही अपने सुख-दुःख का निर्माण करता है। आगम में कहा है :—

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य ॥

जैन धर्म आत्मा की पूर्ण स्वतन्त्रता की इस प्रकार उद्-घोषणा करता है। तुम्हारे सुख और दुःख किसी दूसरे के हाथ में नही हैं। तुम चाहो तो अपने लिए सुख का निर्माण कर

चाहो तो दुःख का निर्माण कर लो। अपना भविष्य जैसा चाहो वैसा बना लो। दूसरी कोई भी शक्ति तुम्हारे पथ में रोड़ा नहीं अटका सकती। तीर्थङ्कर भगवान् की आज्ञा के अनुसार चलोगे, अशुभ कार्यों से बच कर शुभ कार्यों में प्रवृत्त होओगे तो सुखी बन सकोगे। अतएव कर्म करते समय विवेक का परित्याग मत करो। निश्चय समझो कि तुम जो भी क्रिया आज कर रहे हो वह तुम्हारे भविष्य का निर्माण कर रही है। ऐसा समझ कर जरा सावधानी से काम लो। विवेक और दीर्घदृष्टि का उपयोग करो। एकदम वर्त्तमान को ही मत देखो। भविष्य का भी खयाल करो। तुम्हारे वर्त्तमान के कार्य भविष्य में कर्म बन कर तुम्हारे सामने आएँगे।

मनुष्य-मनुष्य में जो भी अन्तर नजर आता है, वह सब कर्मों की बदौलत है। कोई मैले-कुचैले कपड़े पहन कर दूसरे के यहाँ जाता है तो उससे कहा जाता है—वहीं बैठो। और जब कोई सज-धज कर जाता है तो उसे कहते हैं—पधारिये सा., इधर पधारिये। ऊँचे पधारिये। इसका क्या कारण है? यह सब अपने पुण्य-पाप का ही फल है।

निर्धन अगर अभिमान करता है तो उसकी कौन सुनता है? सब बड़ों की कृपा-कटाक्ष की प्रतीक्षा करते हैं। यह बड़प्पन कहाँ से आता है? भाई! पुण्य ही बड़ा बनाता है। जब प्रबल पुण्य का उदय आता है तो कंगाल भी बादशाह बन जाता है।

मानव! सुन लीजे एक धर्म जगत् में सार॥ टेक॥

हे मानव ! तू ने पाप तो बहुत किए, किन्तु धर्म नहीं किया। भैया ! यह दुःख उसी के फल हैं। जैसे तू पाप करने में राजी रहा वैसे धर्म करने में नहीं रहा। धर्म करने में उद्यत रहता तो यह दुःख क्यों सामने आते ? क्यों मुसीबत भुगतनी पड़ती ?

वणिक रहे एक शहर में, है दीन दुःखी बेकार ॥

मानव ! कर लीजे, है धर्म जगत् में सार ॥

ऐ मनुष्यों ! पाप मत करो। जगत् में जितने दुःख हैं वे सब बुरे कर्मों के फल हैं। सब फल पूर्व जन्म के कृत्यों से उत्पन्न होते हैं। यह धर्म करने का अपूर्व अवसर मिला है। धर्म ही संसार में सार है। धर्म करोगे तो धन-धाम आदि सुख के साधन अनायास ही उपलब्ध हो जाएँगे। 'एकहिं साधे सब सधे' अर्थात् एक धर्म की आराधना करने से सब की आराधना आप ही आप हो जाएगी।

आप कहते हैं – महाराज ! धर्म कैसे करें ? पैसा तो है ही नहीं। मगर भाई ! किसने बतलाया है तुम्हें कि पैसा नहीं है तो धर्म भी नहीं हो सकता ? किसने कहा है कि पैसे से ही धर्म होता है ? धर्म की आराधना का तरीका तो निराला ही है। ऊँचे धर्म की आराधना पैसे से नहीं होती, बल्कि पैसे के परित्याग से होती है। देखो, बड़े-बड़े धनवान् चक्रवर्ती और सम्राट, सेठ-साहूकार धन को त्याग कर ही धर्म की आराधना करने को उद्यत हुए थे। इससे स्पष्ट है कि धन से धर्म नहीं होता वरन् धन के त्याग से धर्म होता है।

कहा जा सकता है कि जब धन होगा तभी तो उसका त्याग किया जा सकेगा ? धन होगा ही नहीं तो त्याग कैसे किया जाय और धर्म किस प्रकार हो ? मगर यह विचार भ्रमपूर्ण है। जो अपने शरीर को स्वच्छ रखना चाहता है, उसके शरीर पर अगर मैल लगा है तो उसे दूर करेगा और स्वच्छ होने का प्रयास करेगा मगर जिसके शरीर पर मैल नहीं है वह क्या पहले मैल लगाएगा और फिर उसे दूर करेगा ? नहीं। तो जैसे स्वच्छता के लिए पहले मैल लगाना और फिर उसकी सफाई करना आवश्यक नहीं है, उसी प्रकार धर्म की आराधना के लिए पहले धन कमाना और फिर उसका त्याग करना आवश्यक नहीं है। जिसके शरीर पर मैल नहीं है, वह नये सिरे से मैल न चढ़ने दे, यही उसकी स्वच्छता है। इसी प्रकार जिसके पास धन नहीं है, वह धन कमाने की आकांक्षा न करे, धन के प्रति ममता और मूर्छा का भाव उत्पन्न न होने दे, इसी में उसकी धर्मनिष्ठता है।

एक व्यक्ति पहले अपने शरीर पर जान बूझ कर कीचड़ पोत लेता है और फिर उसे पानी से धोता है। दूसरा व्यक्ति असावधानी से लगे हुए कीचड़ को साफ करता है और तीसरा व्यक्ति कीचड़ लगने ही नहीं देता। अब आप विचार करो कि इन तीन में से आप किसे अधिक अच्छा समझते हैं ? निस्सन्देह आप यही कहेंगे कि जो सावधानी के साथ प्रवृत्ति करता है और कीचड़ लगने ही नहीं देता, वही सब से अधिक बुद्धिमान् है। असावधानी से लगे हुए कीचड़ को साफ करने वाला भी बुद्धिमान् हैं, किन्तु सफाई करने के वास्ते जान बूझ कर कीचड़ पोत लेने वाला व्यक्ति किसी भी प्रकार बुद्धिमान् नहीं कहला सकता।

धर्म के लिहाज से धन भी कीचड़ के समान है। धर्म साधना करने के लिए धन का परित्याग करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में जो धन के प्रति ममत्वहीन है वही सब से अधिक विवेकशाली है। जो उपार्जित किये हुए धन का परित्याग करता है वह भी विवेकशाली गिना जायगा, किन्तु जो धर्म के लिए पहले धन कमाना चाहता है और फिर उसका त्याग करना चाहता है, उसे बुद्धिमान् किस प्रकार कहा जा सकता है ? वह तो उलटी गंगा बहाना चाहता है।

कहने का तात्पर्य वह है कि अगर तुम्हारे पास पैसा नहीं है और पैसे के प्रति ममता का भाव नहीं है तो तुम भाग्यशाली हो। यह मत सोचो कि पैसे के बिना धर्म नहीं हो सकता। अलबत्ता, पैसे के प्रति आसक्ति मन में नहीं रहनी चाहिए। अगर आसक्ति होगी तो दीनता आएगी और उतने अंश में धार्मिकता नहीं आ सकेगी।

वीतराग देव के द्वारा उपदिष्ट धर्म बहुत व्यापक और उदार है। भगवान् ने दान, शील, तप और भावना को धर्म बतलाया है। अगर कोई दान नहीं दे सकता तो शील का पालन कर सकता है, तपस्या कर सकता है और कम से कम शुद्ध भावना तो रख ही सकता है। इसमें तो पैसा लगता ही नहीं है !

किसी गांव में एक दुःखी वणिक् रहता था। वह जो भी काम करता, उलटा ही पड़ता था। लाभ के लिए किये गये कामों से उसे हानि ही उठानी पड़ती थी। वह सोचता-न जाने कितने काल तक मुझे पाप कर्मों का फल भोगना पड़ेगा ! एक बार इसी

प्रकार विचार करते-करते वह सो गया। जब उठा तो उसकी आँखों से आँसू झरने लगे। वह रोने लगा। दिन निकला। वह सोच रहा था कि मैंने पूर्वजन्म में धर्म नहीं किया और पापकर्म किये। इसी कारण मुझे यह फल भोगने पड़ रहे हैं। वह उसी गाँव में विराजमान मुनिराज के पास आया। उसने प्रतिज्ञा कर ली कि जब तक गांव में मुनिराज विराजमान रहेंगे तब तक उनके दर्शन किये बिना अन्न-पानी ग्रहण नहीं करूँगा।

कर्म अन्तराय जो टूटे, तो करना पर उपकार ॥

वह वणिक् प्रातःकाल ईश्वर का भजन कर के मुनिराज के दर्शन करने जाता और फिर बाजार में जाता। संसार में पुण्य और पाप का भी उतार-चढ़ाव होता रहता है। जब उसके पाप का उतार आया और उसने दर्शन करके ही अन्न-पानी ग्रहण करने और व्यापार आदि करने का नियम ले लिया तो उसे व्यापार में भी मुनाफा होने लगा। धीरे-धीरे वह हजारपति और फिर लखपति हो गया। उसने अपनी पत्नी को भी सोने से लाद दिया। जो पड़ौसिने पहले उसकी ओर आंख उठा कर भी नहीं देखती थीं और सामना हो जाने पर नजर चुरा कर या कतरा कर निकल जाती थीं, वही अब उसके पास आने लगीं और सेठानी सा., कहकर चापलूसी करने लगीं। राजा ने उस वणिक् को नगर सेठ की पदवी दी।

नगर-सेठ का पद देकर, किया राजा ने सत्कार ॥

अब उस वणिक् ने देश, जाति और समाज के हित के लिये लाखों रुपये खरचने शुरू किये। सारी रंगत ही बदल गई।

पाटन में जाकर बसने वालों को सब तरह की सुविधाएँ दी जाएँगी। उनसे किसी प्रकार का कर नहीं लिया जायगा।

राजा भविष्यदत्त की यह घोषणा सुनकर बहुत से लोग वहां जा बसे और व्यापार आदि करने लगे। धीरे-धीरे वह नगर फिर पहले की तरह आबाद हो गया। भविष्यदत्त की यह आकांक्षा भी पूरी हो गई।

भविष्यदत्त राजा के कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों को भली भांति समझता था। प्रजा को किसी भी प्रकार का कष्ट न हो, सबल निर्बल को पीड़ा न पहुँचा सके, कोई किसी के अधिकारों का अपहरण न कर सके, धनी निर्धनों को न चूस सके, प्रजा में अनीति और अन्याय न फैल जाय, देश में दुराचार को उत्तेजना न मिले, सब लोग अपने-अपने कर्त्तव्य का प्रमाणिकता के साथ पालन करें, राज्य के अधिकारियों को किसी प्रकार की अनीति करने का अवसर न मिले, रिश्वतखोरी की आदत न हो, इत्यादि बातों की वह बहुत सावधानी रखता था। दूसरे राजाओं की तरह वह भोग-विलास में डूबने वाला नहीं था। उसने अपने आप को प्रजा का सेवक और देश का रक्षक बनाया। वह महलों में पड़ा पड़ा मौज न उड़ाता वरन् प्रजा के सम्पर्क में बना रहता था। कोई भी दुखिया उसके पास पहुँच सकता था और अपने दुख-दर्द की बात निःसंकोच भाव से सुना सकता था।

एक दिन भविष्यदत्त अपनी राजसभा में बैठे हुए थे कि उसी समय वहाँ के उद्यानपाल ने आकर निवेदन किया-'पृथ्वीनाथ! बधाई है।'

भविष्यदत्त—किस बात की बधाई देने आये हो भाई !

उद्यानपाल—विमलबुद्धि महाराज बाग में पधारे हैं ।

उद्यानपाल के मुख से यह हर्ष समाचार सुन कर भविष्यदत्त अत्यन्त प्रसन्न हुए । उन्होंने उद्यानपाल को आभूषण आदि देकर सन्तुष्ट किया । उसी समय सिंहासन से नीचे उतर कर, उस ओर मुँह करके तीन बार वन्दना की और फिर सिंहासन पर विराजमान हो गये ।

दूसरे दिन प्रात काल खूब सज-धज कर राजा भविष्यदत्त हाथी पर सवार होकर अवधिज्ञान धारी मुनिराज विमलबुद्धि के दर्शनार्थ गये । तिलक सुन्दरी और सुमति भी साथ गईं । नगर सेठ धनसार, माता कमलश्री आदि भी साथ गईं । मुनिराज की सेवा में पहुंच कर सब ने यथोचित विधि के अनुसार वन्दन-नमस्कार किया और सब हाथ-जोड़ कर मुनिराज के समक्ष बैठ गये ।

मुनिराज अत्यन्त शान्त, दान्त, त्यागी, वैरागी, ज्ञानवान् और संयमवान् थे । उनके अन्तःकरण की निर्मलता चेहरे पर प्रतिबिम्बित हो रही थी । मुनिराज ने गम्भीर भाव से उपदेश देना आरम्भ किया । कहा—

भव्य जीवों ! इस संसार में अगर कोई सारभूत पदार्थ है तो वह धर्म ही है । धर्म के सिवाय और सब पदार्थ असार हैं । विवेकशील पुरुषों का कर्त्तव्य है कि वे सारभूत और निस्सार पदार्थों को पहचान कर सारभूत पदार्थ को स्वीकार करें और निस्सार पदार्थों की प्राप्ति के लिए किये जाने वाले उद्योग से विरत

हों। आत्मिक सुख ही सच्चा सुख है और विषयजन्य सुख, सुखाभास है, दुःख का कारण है। अतएव आत्मिक सुख ही सारभूत है। उसी को प्राप्त करने का प्रबल उद्योग करने में मानव-जीवन की सार्थकता है।

सूक्ष्म से सूक्ष्म जंतु से लगाकर समस्त प्राणी एक मात्र सुख की ही अभिलाषा करते हैं। अभिलाषा ही नहीं करते, बल्कि उसी के लिए सदा चेष्टाएँ करते रहते हैं। मगर देखा जाता है कि अधिकांश को अन्त में भग्न मनोरथ होकर निराशा का ही सामना करना पड़ता है। उन्हें जब सुख के बदले दुःख भोगना पड़ता है तो वे विकल हो जाते हैं, छटपटाने लगते हैं और पश्चात्ताप करते हैं। इसका कारण क्या है?

सुख के बदले दुःख की प्राप्ति होने के प्रधान कारण दो हैं। प्रथम यह कि साधारण लोग सुख के स्वरूप को सम्यक् रूप से समझते ही नहीं है। दूसरे सुख प्राप्त करने के लिए विपरीत प्रयास करते हैं – पूर्व की ओर जाने के उद्देश्य से पश्चिम की ओर कदम बढ़ाते हैं। कितने ही लोग धन-सम्पत्ति की प्राप्ति में सुख समझते हैं, कोई-कोई कुटुम्ब-परिवार के संयोग में सुख समझते हैं; कोई राजपाल आदि वैभव में सुख की कल्पना करते हैं। इस प्रकार जिसने जिस वस्तु में सुख मान लिया है, वह उसी के संयोग के लिए दिन-रात व्यग्र बना रहता है। मगर संसार का अनुभव बतलाता है कि यह सब भ्रम पूर्ण धारणाएँ है। किसी भी परदार्थ से, बाह्य वस्तु से सुख की प्राप्ति नहीं होती। यही नहीं, परदार्थ दुःख के ही कारण बनते हैं। ज्यों-ज्यों परपदार्थों का संयोग साधा जाता है, त्यों-त्यों दुःख की मात्रा बढ़ती ही

चली जाती है। यही कारण है कि जिन ज्ञानवान् पुरुषों को सुख का वास्तविक स्वरूप प्रतीत हो गया है, वे परपदार्थों के संयोग से बचने का ही प्रयास करते हैं। आज तक जो महानुभाव दुःखों से बच सके हैं और असली सुख को प्राप्त कर सके हैं, उन सब ने एक ही मार्ग अपनाया है और वह यही कि वे पर में 'स्व' बुद्धि का परित्याग करके आत्मनिष्ठ बने हैं। जगत् के पदार्थों से जब आत्मीयता की भावना हट जाती है तो चित्त में लघुता का भाव उत्पन्न होता है और जितनी-जितनी लघुता बढ़ती जाती है उतनी ही उतनी निराकुलता बढती जाती है। ज्यों-ज्यों निराकुलता बढ़ती जाती है त्यों-त्यों सुख की वृद्धि होती है। इस प्रकार आत्मा जब परिपूर्ण रूप से वीतराग बन जाता है अर्थात् विश्व के किसी भी पदार्थ पर उसका ममत्व शेष नहीं रह जाता, तभी उसको परिपूर्ण सुख की--अनन्त अक्षय अव्यावाध सुख की-उपलब्धि होती है।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि सुख का मार्ग सांसारिक पदार्थों को ग्रहण करना नहीं, बल्कि त्यागना है।

मुनिराज ने फिर कहा—भव्य जीवो ! जीवन क्षणभंगुर है और यौवन विद्युत की चमक के समान है। अतएव मनुष्य-जीवन पाकर निश्चिन्त नहीं हो जाना चाहिए। इस जीवन को सफल एवं सार्थक बनाने के लिए अप्रमत्त भाव से धर्म की आराधना करनी चाहिए। यह तो बिलकुल स्पष्ट है कि जीवन के जो मूल्यवान क्षण व्यतीत होते जा रहे हैं, वे फिर कभी लौट कर नहीं आ सकते। यह भी स्पष्ट है कि नर--पर्याय पुनः-पुनः प्राप्त

नहीं होती । अतएव जिसे पूर्वोपार्जित पुण्य के प्रकर्ष से यह परम प्रकृष्ट पर्याय प्राप्त हुई है, उसे क्षण भर भी प्रमाद नहीं करना चाहिए और धर्म की आराधना करके आत्मा का कल्याण कर लेना चाहिए ।

मुनिराज विमलबुद्धि का इस प्रकार का सदुपदेश सुन कर भविष्यदत्त बहुत प्रभावित हुआ । उपदेश जब समाप्त हो चुका तो भविष्यदत्त खड़ा हुआ और हाथ जोड़ कर निवेदन करने लगा–मुनिनाथ ! आप अवधि ज्ञानी हैं । कृपा करके मेरा संशय निवारण कीजिए । मुनिवर ! कृपया बतलाइए कि पूर्व में मैंने कौन—सा पुण्य उपार्जन किया था ? क्या करणी की थी ? और मैनागिरि पर किस कर्म के उदय से मुझे भटकना पड़ा ? किस कारण मुझे उस दुःख की प्राप्ति हुई ?

राजा भविष्यदत्त के प्रश्न सुन कर मुनिराज बोले-राजन् ! पहले तुम्हारा जन्म जहाँ हुआ था और तुमने जो करणी की थी, वह सब संक्षेप में मैं कहता हूँ । यह कथन कुतूहल की उपशान्ति के लिए नहीं, वरन् शिक्षा ग्रहण करने के लिए है । अतएव ध्यान-पूर्वक श्रवण करो ।

९-११-४८ }

३

परमात्मा बनने का पथ

स्तुतिः—

ज्ञानं यथा त्वयि विभाति कृतावकाशं,
नैवं तथा हरिहरादिषु नायकेषु ।
तेजः स्फुरन्मणिषु याति यथा महत्त्वं,
नैवं तु काचशकले किरणाकुलेऽपि ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं कि—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त शक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन् ! आपकी कहां तक स्तुति की जाय ? हे प्रभो ! आपके कहां तक गुण गाये जाएं ?

प्रभो ! जिस प्रकार आप में ज्ञान सुशोभित होता है, वैसा हरि हर आदि किसी भी अन्य में नहीं होता । अगर सब में

एक-सा ज्ञान होता तो संसार में जो मतभेद दिखाई देता है, वह क्यों होता ? मतभेद का कारण समझ का फेर ही है। सब का ज्ञान एक सरीखा हो तो समझ में फेर नहीं हो सकता। दुनियां में कई प्रकार के देवों की कल्पना की जाती है किन्तु जैसे मणियों का तेज असाधारण होता है, उसी प्रकार वीतराग भगवान् का ज्ञान भी असाधारण है ! कांच के टुकड़े में, चाहे उस पर सूर्य की किरणें ही क्यों न पड़ रही हों, वह चमक नहीं होती जो मणि में होती है। इसी प्रकार राग-द्वेष से मलीन देवताओं में निर्मल और परिपूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता।

भगवन् ! आपने पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके धर्म का जो मार्ग प्रकट किया है वही मार्ग आत्मकल्याण के लिए परम उपयोगी है। वैसा मार्ग किसी अन्य के द्वारा प्रकाशित नहीं हुआ। ऐसे परिपूर्ण ज्ञानी भगवान् ऋषभदेव हैं। उन्हीं को हमारा बार-बार नमस्कार है।

भाइयों ! ससार में अनेक मत प्रचलित हैं। उन सब मतों की मान्यताएँ एक दूसरे से विरुद्ध हैं। कोई कुछ कहता है तो कोई कुछ कहता है। और फिर एक-एक मत के अन्तर्गत भी अनेक पंथ या सम्प्रदाय होते हैं। वे भी परस्पर विरोधी विचार प्रकट करते हैं। आत्मकल्याण के इच्छुक पुरुष के सामने कदाचित् विकट समस्या उपस्थित हो जाती है कि किस पथ पर चला जाय ? किस की बात सत्य मानी जाय ? किस मार्ग पर चलने से वास्तव में आत्मा का हित होगा ? इस प्रकार की समस्या जब उपस्थित होती है और दिमाग जब उसे सुलझाने में समर्थ नहीं हो पाता कभी-कभी बड़ी बेचैनी होती है। कोई-कोई लोग तो ऐसे अव-

तर पर चिढ़-से जाते हैं। साधारण लोगों के समक्ष ही ऐसी समस्या आती हो सो बात नहीं है। बड़े-बड़े विचारक भी कभी-कभी उलझन में पड़ जाते हैं ! ऐसे ही लोगों में से किसी ने कहा है:—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्नाः,
नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम् ॥
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम् ।
महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥

अर्थात् - तर्क कोई स्थिर वस्तु नहीं है । उससे कभी एक बात सिद्ध हो जाती है तो कभी उसके विरुद्ध दूसरी ही बात सिद्ध हो जाती है। तर्क करने वाला यदि कुशाग्र-बुद्धि होता है तो वह किसी भी पक्ष को ग्रहण करके,अपने अनुकूल युक्तियां खोज निकालता है और अपने पक्ष को सही सिद्ध कर देता है। मगर जब उससे अधिक बुद्धिशाली कोई दूसरा विद्वान् उस पक्ष पर विचार करता है तो वह उसे खण्डित कर देता है। संसार में ऐसा ही चल रहा है। अतएव तर्क पर भरोसा करके किसी मार्ग को अपना लेना खतरनाक है ।

तर्क का त्याग करके अगर कोई शास्त्र की ओर दृष्टि दौड़ाता है तब भी उलझन सुलझती नहीं है और ज्यों की त्यों बनी रहती है। कारण यह है कि संसार में शास्त्र भी भिन्न-भिन्न हैं। वे सब आत्मकल्याण के अलग-अलग मार्ग बतलाते हैं और एक दूसरे की बातों का विरोध करते हैं। ऐसी स्थिति में यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि किस शास्त्र की बात मानी जाय और किसकी न मानी जाय ?

आगम को भी जाने दें और मुनि-महात्माओं की शरण लें तब भी समस्या हल नहीं होती। संसार में बहुत-से मुनि-महात्मा कहलाने वाले हैं, जो नाना प्रकार के आचार-विचार का पोषण एवं समर्थन करते हैं। उनमें से किसके द्वारा प्रतिपादित मार्ग पर चलना चाहिए और किसके बतलाये मार्ग से बचना चाहिए, किसकी बात प्रामाणिक माननी चाहिए और किसकी नहीं, यह निश्चय करना कठिन हो जाता है।

इस प्रकार उलझन में पड़ा हुआ व्यक्ति अन्त में झुंझला-कर कहता है—धर्म का मर्म गुफा में अंधकार में छिपा हुआ है, उसे कैसे समझा जाय? किस प्रकार पहचाना जाय? ऐसी स्थिति में बस एक ही मार्ग है और वह यही कि जिस मार्ग पर महाजनों ने गमन किया है—महाजन जिस पथ पर आत्म-कल्याण के लिए चले हैं, उसी मार्ग पर हमें चलना चाहिए। उसी पर चलने से आत्मा का हित होगा।

कहने को तो यह कह दिया और महाजनों के मार्ग पर चलने का निश्चय कर लिया, परन्तु इससे भी क्या समस्या हल हो गई? नहीं प्रश्न सामने आ खड़ा हुआ कि 'महाराज' किसे समझा जाय? जगत् में महान् समझे जाने वाले पुरुष को महा-जन समझें अथवा बहुत लोगों को महाजन समझें? इस प्रश्न पर बड़े-बड़े विद्वानों में मतभेद रहा है और कहना चाहिए कि आज तक इसका अन्तिम रूप से समाधान नहीं हुआ।

हमारे विचारों का प्रवाह जब तर्कानुगामी होकर बहता है, तब इस प्रकार की उलझनें और अनिश्चित स्थितियाँ उत्पन्न हो

जाती हैं। वास्तविक बात यह है कि मनुष्य जब एकान्त तर्क की तरफ झुक जाता है तो उसे खण्डन ही खण्डन मिलता है। तर्क कैंची के समान है, जिसका काम काटना ही काटना, टुकड़े-टुकड़े ही करना है। कैंची तोड़ सकती है, जोड़ नहीं सकती। तर्क किसी मान्यता का खण्डन कर सकता है, मण्डन नहीं कर सकता। जोड़ना, मण्डन करना, निश्चय करना श्रद्धा का काम है। जीवन के श्रेयस् के लिए तर्क और श्रद्धा—दोनों का यथोचित रूप से उपयोग करने की आवश्यकता होती है। जिसके हृदय में तर्क-युक्त श्रद्धा और श्रद्धायुक्त तर्क होता है, उसे कल्याण का मार्ग मिलने में कठिनाई नहीं होती।

थोड़ी देर के लिए धर्म की बात जाने दीजिए और सिर्फ लोक व्यवहार की ही बात को लीजिए। आप अपने जीवन व्यवहार का अगर भली-भाँति, गहराई के साथ अध्ययन करेंगे तो साफ मालूम होने लगेगा कि तर्क और श्रद्धा दोनों के यथा-योग्य संबंध से ही लोक व्यवहार निभ रहा है। जब लोक व्यवहार के सम्बन्ध में हम दोनों का सम्बन्ध करके चलते हैं तो धर्म व्यवहार में भी क्यों न उनका सम्बन्ध करें? क्यों एकान्त को पकड़ कर बैठें?

वीतराग भगवान् ने जिस तत्त्व का उपदेश दिया है, वह तर्क और श्रद्धा दोनों दृष्टियों से ही संगत और समीचीन सिद्ध होता है। उदाहरणार्थ – भगवान् ने फर्माया है-'एगे आया।' भगवान् ने अपने ज्ञान के प्रकाश में देखा कि संग्रहनय से तो आत्मा एक है और यों आत्माएँ अनन्त हैं। मनुष्य जैसे सर्वाधिक

विकास प्राप्त प्राणी से लेकर कीड़े-मकोड़े और सूक्ष्म से सूक्ष्म जन्तु की आत्मा की तरफ ध्यान दिया जाय और गहराई से परीक्षण किया जाय तो साफ दिखाई देगा कि सब आत्माओं में बहुत-सी ऐसी समान बातें हैं, जिनके आधार पर निःसंकोच एवं निस्सन्देह कहा जा सकता है कि प्रत्येक आत्मा सजातीय है-एक ही वर्ग की हैं। कहा है:—

आहारनिद्राभयमैथुनं च,
सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ॥

अर्थात् चाहे पशु हो, चाहे मनुष्य हो, सब को आहार की आवश्यकता होती है, सभी नींद लेते हैं, सब भय के कारण उपस्थित होने पर भयभीत होते हैं और सभी में कामवासना विद्यमान होती है।

इस कथन से यही निष्कर्ष निकलता है कि सब आत्माएँ एक जातीय हैं और यही बात शास्त्रीय शब्दों में यों कही गई है कि संग्रह नय की अपेक्षा आत्मा एक है।

अब अगर दूसरे दृष्टिकोण से देखते हैं तो ज्ञात होता है कि प्रत्येक शरीर में स्थित आत्मा अलग-अलग है। जब सभी आत्माओं के सुख-दुःख अलग-अलग हैं, सब अपने-अपने कर्मों के अनुसार विभिन्न प्रकार के फल का उपभोग करती हैं तो यह मानना ही पड़ेगा कि उन सब का अस्तित्व अलग-अलग है।

आगम में आत्मा के दो भेद किये गये हैं–आत्मा और परमात्मा। आत्मा के साथ कर्मों का संयोग है और परमात्मा समस्त कर्मों से अलग हो चुका है आत्मा शब्द के साथ 'परम' विशेषण लग गया तो परम+आत्मा अर्थात् 'परमात्मा' बन गया। वह परम विशेषण आत्मा की परिपूर्ण विशुद्ध अवस्था का द्योतक है। परमात्मा वीतराग है, सर्वज्ञ है, जब कि आत्मा विकारों से युक्त है और अल्पज्ञ है। आत्मा को यह भी खबर नहीं है कि पीठ के पीछे क्या हो रहा है? उसमें इतना गम्भीर अज्ञान भरा हुआ है। मगर परमात्मा में अज्ञान नहीं है। उसके ज्ञान की सीमा नहीं है। काल और क्षेत्र की सीमाओं को लांघ कर परमात्मा का ज्ञान असीम और अनन्त बन गया है।

जिस आत्मा ने परमात्मपद प्राप्त कर लिया है, वह पहले साधारण आत्मा के रूप में था। उसने साधना के पथ पर चल कर समस्त विकारों को दूर किया और परमात्मा का पद पाया है। इसी प्रकार प्रत्येक आत्मा के लिए यह मार्ग खुला हुआ है। जो भी आत्मा परमात्मपद की प्राप्ति करने का इच्छुक हो वह उस साधना को अपना कर परमात्मा बन सकता है। परमात्मा बनने के लिए जो साधना करनी पड़ती है, उसमें दो बातों का मुख्य रूप से समावेश होता है। शास्त्र में कहा है:–

दोहिं ठाणेहिं अणगारे सम्पन्ने अणाइयं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं वीइवइज्जा। तं जहा-विज्जाए चेव, चरणेण चेव।

(ठाणांगसूत्र, २, १)

आशय यह है कि सम्यग्ज्ञान और चारित्र से सम्पन्न साधु अनादि-कालीन संसार रूपी अटवी को लांघ जाता है।

हे आत्मन् ! अगर तुझे परमात्मपद की साधना के पथ पर चलना है तो तू सब से पहले दुनिया की खटपट को त्याग दे। दुनिया की खटपट में पड़ा रहेगा तो तेरा पार उतरना बहुत कठिन है। कहा जा सकता है कि माँ, बाप, स्त्री, हवेली, बाग-बगीचा, सोना, हीरा आदि-आदि दुर्लभ और प्रिय पदार्थों का परित्याग कैसे कर दिया जाय ? पर भाई, एक दिन तो इनका त्याग करना ही पड़ेगा। इनके लिए सारा जीवन व्यतीत करने के पश्चात्—सारी जिन्दगी इनके फेर में पड़ कर नष्ट कर देने के बाद इनका त्याग तो होगा ही, फिर जीते जी, स्वेच्छा से त्याग क्यों नहीं कर देता ? लाचार होकर, अनिच्छा से जो त्याग करना पड़ेगा, वही त्याग अगर स्वेच्छापूर्वक किया जाय तो कल्याण होने में विलम्ब न लगे।

आत्मा, परमात्मा तो बनता है, मगर यकायक नहीं बन सकता। परमात्मा बनने से पहले उसे महात्मा बनना पड़ता है। महात्मा बनने के लिए स्त्री, पुत्र, धन-सम्पदा आदि का त्याग करना पड़ता है। जो सांसारिक पदार्थों में आसक्त है, दुनिया के वैभव को छोड़ने में असमर्थ हैं और कहते हैं कि—अजी, क्या करें, इतना त्याग तो हम से नहीं हो सकता, वे न तो महात्मा बन सकते हैं और न परमात्मा बन सकते हैं।

भाइयों ! संसार से निस्तार पाना इतना सरल नहीं है। यह संसार अनादि है। अनादि काल से आत्मा नाना गतियों और

योनियों में भटक रही है। वह महान् अटवी के समान है। इस संसार-अटवी में नाना प्रकार की झाड़ियाँ हैं, जिनमें मोही जीवों की गाड़ियाँ अटक जाती हैं। जङ्गल में रास्ते के किनारे जो झाड़ियाँ खड़ी रहती हैं, वे पथिक को उलझा लेती हैं। जो अत्यन्त सावधान होकर चलता है वह तो आगे बढ़ जाता है, परन्तु जरा-सी भी असावधानी करने वाला उनमें उलझ रहता है। इसी प्रकार संसार में व्यवहार करते समय बहुत सावधानी की आवश्यकता है। यहाँ क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह, ममता आदि की अनेकानेक जटिल झाड़ियाँ मौजूद हैं। जो सावधानी से चूका, समझ लो कि वह उलझ गया! आत्म-कल्याण के पथिक को इनसे बचने के लिए सदैव सावधान रहने की आवश्यकता होती है।

संसार रूपी अटवी की झाड़ियों में बिना उलझे निकल जाने के लिए दो बातों की आवश्यकता है। प्रथम तो सही रास्ते को समझने के लिए सम्यग्ज्ञान या सच्ची विद्या चाहिए और फिर उस रास्ते पर चलने के लिए पुरुषार्थ करना चाहिए। उसी पुरुषार्थ को चारित्र कहते हैं। इस प्रकार विद्या और चारित्र दोनों की आवश्यकता है। ज्ञान और चारित्र में से किसी भी एक के अभाव में परमात्मपद प्राप्त नहीं किया जा सकता और न संसार-कान्तार को पार किया जा सकता है।

ऊपर कहा गया कि 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' अर्थात् कल्याण का मार्ग वही है जिस पर 'महाजन' चले हैं। 'जन' साधारण आदमी कहलाता है और उसके साथ 'महान्' विशेषण लगा देने से अर्थ निकलता है—साधारण श्रेणी के मनुष्यों से उच्च मनुष्य। मनुष्य में महत्ता या उच्चता किस प्रकार आती है? कई

लोग धनवान् को बड़ा आदमी समझते हैं । जो जितना ज्यादा धनवान् है, दुनिया में वह उतना ही बड़ा आदमी गिना जाता है । कई लोग सरकारी अधिकारी को बड़ा आदमी समझते हैं। कोई-कोई अधिक प्रतिष्ठापात्र पुरुष को महाजन या बड़ा आदमी समझते हैं । इस प्रकार बडे आदमी के विषय में भी अनेक प्रकार के विचार प्रचलित हैं । हो सकता है कि धन के इच्छुक के लिए धनवान् ही बड़ा आदमी हो, जिसे नौकरी की अभिलाषा है उसकी दृष्टि मे सरकारी अधिकारी बड़ा आदमी जंचे, इसी प्रकार किसी दूसरे दृष्टिकोण से किसी को कोई और बड़ा आदमी मालूम पड़े,

कोई किसी गांव में जाकर पूछता है कि इस गांव में किसकी बस्ती है ? उत्तर मिलता है—लोगों की बस्ती। और यदि उस गांव में पच्चीस पचास व्यापारियों के घर हों तो कहा जाता है कि महाजनों की बस्ती है। अब जरा विचार करो कि वे तो 'लोग' कहलाते हैं और तुम्हारे कौन-से सींग या पूंछ है कि महाजन कहलाते हो ? दूसरों के लड़के छोरा-छोरी कहलाते हैं और आपके कुंवर साहब क्यों कहलाते हैं ? जो मन्दिर में बैठे हैं वे ठाकुरजी कहलाते हैं और राजपूत ठाकुर साहब कहलाते हैं। यह साहब कहां से आ गया ? कभी विचार करते हो कि समाज में आपको जो मान मर्यादा और प्रतिष्ठा मिली है, उसका क्या कारण है ? इस मान-मर्यादा का मूल्य किस रूप में आपने चुकाया है ! जिन लोगों ने आपको बड़प्पन दिया है, उनके प्रति आपका कैसा व्यवहार है ? कभी उनके दुःख सुख का विचार भी करते हो ? उनके कष्टों को निवारण करने का भी प्रयत्न करते हो ? जिनकी बदौलत आपको महाजन की प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है, कभी उनके प्रति समवेदना और सहानुभूति की भावना आपके हृदय में उत्पन्न होती है ? ऐसा तो नहीं है कि सिर्फ उन्हें लूटने का ही विचार करते हो ? याद रखना चाहिए कि अगर अपनी प्रतिष्ठा का समुचित मूल्य न चुकाया तो प्राप्त हुई प्रतिष्ठा टिकाऊ नहीं होगी।

ठाकुर के साथ 'साहब' और व्यापारियों के लिए 'महाजन' शब्द इसीलिए है कि उनकी बस्ती में जो लोग रहते हैं, आवश्यकता होने पर उनकी रक्षा की जाय। उनके दुःख-दर्द को दूर करने में अपनी शक्ति लगाई जाय। उन्हें प्रेम की दृष्टि से देखो। उनकी सार-संभाल करो। उनके दुःख को अपना ही दुःख

समझो। आप मेवा-मिष्टान्न खाओ तो उन्हें रूखी रोटी का भी अभाव न होने दो। भाइयों ! जिनकी बदौलत आप बड़े कहलाते हो और जिनके कारण आपको वैभव मिला है, उन्हें अपने पुत्र के समान समझो। ऐसा करोगे तो आपका बड़प्पन सार्थक होगा और स्थायी भी होगा और अगर आपने उन्हें स्वार्थ साधन का हथियार ही बनाये रक्खा तो निश्चित समझ लेना कि वह हथियार आपके विरुद्ध ही प्रयोग में आएगा। आज विश्व में क्रान्ति की जो लहर उठी है, वह साधारण नहीं है। उसका सामना करने के लिए सामूहिक रूप से अपने तौर-तरीके बदलने की आवश्यकता है। कहा है:-

जैन धर्म यतना में कह्यो श्रीजिनवर,
जैन बिना फैन हिंसा धर्म न होय रे।
जैन में जनम लियो महाजन नाम दियो,
खोटा-खोटा काम कियो गयो कुल खोय रे॥
जयणा कीधी सुसलिया को जयणा कीधी परेवा को,
जयणा कीधी धर्मरुचि नमि जिन जोय रे।
रिख लालचंद कहे जयणा करे धन्य सो हु,
जयणा बिना जग सहु रितो गयो खोय रे॥

भगवान् ने फर्माया है कि यतनापूर्वक उठने, बैठने, चलने, खाने-पीने, सोने आदि में ही धर्म की रक्षा है। बोलना ऐसा कि जिससे किसी को कष्ट न हो, किसी के मर्म पर आघात न हो। खाने-पीने में भक्ष्य-अभक्ष्य का विवेक रक्खे। चलने में योग्य-

अयोग्य का ख्याल बना रहे । उठने-बैठने और सोने में भी यतना-सावधानी बरतनी चाहिए । यहाँ तक कि खड़े रहने में भी सभ्यता और यतना का बराबर ध्यान रखना चाहिए । बड़ा आदमी वही कहलाता है जो प्रत्येक क्रिया खूब सोच-समझ कर करता है, इस तरह कि इज्जत में किसी प्रकार फर्क न आय । हर किसी के घर न जाना, असमय में किसी के यहाँ न जाना । अवसर का विचार करना, जिससे घर के स्वामी को अप्रीति न हो और शंका भी उत्पन्न न हो । तू चाहे नीति पर है और तेरे मन में तनिक भी दुर्भाव नहीं है, फिर भी यदि दूसरे को शंका करने का अवसर देता है तो समझ ले कि तेरी इज्जत में फर्क आ गया । सभ्य पुरुष को सदैव इस बात का विचार रखना चाहिए कि क्या करने योग्य है और क्या नहीं करने योग्य है ? इन सब बातों का विवेक विद्या-ज्ञान से उत्पन्न होता है । विद्यावान् पुरुष विचारशील होता है । कहा है-

बिना विचारे जो करे, सो पीछे पछताय ।
काम बिगारे आपुनो, जग में होत हँसाय ॥

कारण यही तो है कि उसने मर्यादा का उल्लंघन किया । अतएव प्रत्येक कार्य करने से पहले गम्भीर सोच-विचार करने की आवश्यकता है ।

बहिन, माता, पिता, भाई, पड़ौसी, गांव वाले, पंच आदि कोई भी क्यों न हो, सब के साथ व्यवहार करते समय योग्य-अयोग्य की बात न भूलो । किसके साथ कैसा व्यवहार करना योग्य है, यह बात जो सदा ध्यान में रखता है और इसी के अनुसार व्यवहार करता है, वही प्रतिष्ठित व्यक्ति गिना जाता है ।

कई लोग सोचते हैं - हमें क्या परवाह है ? हमें क्या गर्ज है ? परन्तु भाई, परवाह और गर्ज तो उसे रहती है जो अपनी इज्जत रखना चाहता हो । जिसे अपनी प्रतिष्ठा की परवाह नहीं है, इज्जत का खयाल नहीं है, वह चाहे जो कर सकता है, चाहे जो कह सकता है और चाहे जो सोच सकता है । मगर ऐसे लोगों की दुनिया में कोई गिनती नहीं होती । वह जीवित रहें तो क्या और मर जायँ तो क्या ? गाँव में कुत्ता मर जाता है तो कौन उसकी तरफ ध्यान देता है ? और यदि कुत्ता जिन्दा रहता है तो भी कौन उसकी परवाह करता है ? इसी प्रकार बेइज्जती के साथ जीवित रहने और मरने वाले की भी कोई परवाह नहीं करता । इस प्रकार जो कहता है कि हमें किसी की परवाह नहीं है, वास्तव में उसकी भी कोई परवाह नहीं करता ।

सेठानी के हाथों पर रहने वाले गोखरू को देखो । वे कैसे बने हैं ? सोने ने पहले बहुत हथौड़े खाये । उसे फिर मूस में तपना पड़ा । तब कहीं वे बाई के हाथों में आकर रहे । तो बड़ा बनने के

लिए बड़े दुःख भुगतने पड़ते हैं। इसी प्रकार मनुष्यों में जो बड़ा है, वह अपनी ऊँची करणी के कारण ही बड़ा है। हो सकता है कि कोई बड़ा बन करके ऊँची करणी न करे और अपने बड़प्पन को गँवावे, किन्तु आगे उसे अपनी करतूतों का फल भोगना पड़ेगा। फिर भी इस कथन में कोई अन्तर नहीं आता कि उसका मौजूदा बड़प्पन किसी पूर्वकालीन ऊँची क्रिया का ही फल है। वस्तुतः सदाचार के फल-स्वरूप ही मनुष्य में बड़प्पन आता है।

बाजार से मेथी, पालक, बथुआ आदि भाजी खरीद कर घर ले जाते हो। क्या उसे यों ही खा जाते हो? नहीं। उसका संस्कार करना पड़ता है और संस्कार करने के पश्चात् ही वह खाने योग्य बनता है। उसमें मसाला लगाना पड़ता है। इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य जन्म से साधारण मनुष्य के रूप में ही उत्पन्न होता है, परन्तु ज्ञान और सदाचार रूप संस्कार से जब सम्पन्न होता है तभी उसमें बड़प्पन आता है। क्रिया और सम्यक्-चारित्र का मसाला मनुष्य को महत्ता प्रदान करता है। मगर 'हमें क्या परवाह है?' ऐसा कहने वालों को इन बातों का क्या पता है! अरे, जिन्हें उठने और बैठने का भी शऊर नहीं है, वे क्या मनुष्य कहलाने योग्य हैं? भगवान् महावीर ने उठने-बैठने तक के विषय में सूचना की है—

क्या नर और क्या नारी, सभी को यथोचित यतना की आवश्यकता है। इधर बच्चे को खांसी हो रही है, उसकी नाक वह रही है और उधर उसकी माता जामफल खा रही है! वह नहीं सोचती कि उसके शीतल चीजें खाने से दूध में भी शीतलता का अंश पहुँचेगा और बच्चे को अधिक खांसी हो जायगी। एक ओर पति को खांसी और जुकाम हो रहा है और दूसरी ओर श्रीमतीजी ने शाम को दहीवड़े बना कर तैयार कर लिये। कहिए, क्या ऐसे अवसर पर दहीबड़े बनाना योग्य है? ऐसी स्त्रियों को क्या विवेकशालिनी कहा जा सकता है? उन्हें यतना का खयाल है? नहीं।

सारांश यह है कि जीवन के प्रत्येक व्यवहार में, चाहे वह छोटा हो या बड़ा, विवेक की आवश्यकता होती है। विवेक के अभाव में पद-पद पर हानि उठानी पड़ती है।

विवेक के बिना साधु की भी निन्दा होती है और साध्वी की भी। कोई साधु या साध्वी कितना ही उग्र एवं उत्कट आचार का पालन क्यों न करे, अगर उसमें विवेक का पर्याप्त पुट नहीं है तो वह सराहनीय नहीं समझा जाता। आपको यह तो मालूम ही है कि आचार अर्थात् अथाने में अगर विवेक न रक्खा जाय तो फूलन आ जाती है और फूलन आने पर उसे फेंकना पड़ता है। उसमें सड़ांद पैदा हो जाती है, कीड़े पड़ जाते हैं और सारा आचार बेकार हो जाता है। इसके विपरीत, कोई-कोई आचार वर्ष-दो वर्ष तक भी नहीं बिगड़ता है और जब देखो तभी ताजा ालूम होता है। इसका कारण यही है कि विवेक के साथ-यतना क उसकी सार-सम्भाल की गई है। तो इस प्रकार आचार भी

विचार के साथ होना चाहिए। जिस आचार के साथ विचार का सम्मिश्रण नहीं है, उसका कोई मूल्य नहीं है। वह मिथ्या-आचार है। उससे आत्मा का त्राण नहीं होता।

भगवान् ने साधु की प्रत्येक क्रिया विवेकपूर्वक करने का ही विधान किया है। साधु व्याख्यान दे—धर्मोपदेश करे—तो भी विवेक से काम ले। उपदेश करने से पहले उसे जान लेना चाहिए कि श्रोता किस रुचि और किस योग्यता के हैं। इस बात को भलीभांति जान लेने पर ही वह उनके लिए लाभकारक उपदेश दे सकता है। दशवैकालिक सूत्र में कहा है कि ऐसा उपदेश मत दो, जिससे लोग आपस में लड़ने लगें। ऐसा उपदेश भी न दो कि जिसे सुन कर लोगों की काम वासना उत्तेजित हो और उस दिन तो ब्रह्मचर्य का पालन करना उनके लिए कठिन हो जाय। एक बार एक ने ऐसा ही उपदेश दे दिया था कि जिससे श्रोताओं में आपस में बहुत झगड़ा खड़ा हो गया था। इसीलिए भगवान् ने कहा है कि साधु को विवेकपूर्वक बोलना चाहिए।

कुल को कलंक लगेगा। बाप-दादों की इज्जत पर पोता फिर जायगा। अच्छे घराने में जन्म लिया, महाजन कहलाए, फिर भी अगर नीचे काम किये तो कुल की लाज गई समझना चाहिए। लंका में पहुंच कर दरिद्र रह जाय, नदी के किनारे पहुँच कर भी प्यासा रह जाय तो उसे अभागा ही कहा जायगा। इसी प्रकार महाजन के कुल में जन्म पाकर जो नीच कृत्य करता है, वह भी महान् अभागा है। वह अपने समग्र जीवन को बर्वाद करता है और न जाने कितनी पीढ़ियों की प्रतिष्ठा का लोप करता है।

जिस कुल में ऊँचा आचार, विचार और उच्चार हो, वही ऊँचा कुल कहलाता है। ऐसे कुल में जन्म लेकर भी जो नीच आचरण करता है, उसके लिए कोई उपयुक्त शब्द नहीं है!

पिता और पुत्र को तथा सास और बहू को तथा अन्य कुटुम्बी जनों को आपस में किस प्रकार बोलना चाहिए, यह समझ लेना भी एक महत्त्वपूर्ण बात है। कुटुम्बी जनों के पारस्परिक व्यवहार पर ही जीवन की शान्ति निर्भर है। जिस कुटुम्ब के सदस्य आपस में मिल-जुल कर रहते हैं, प्रेमपूर्वक वर्त्ताव करते हैं, वह कुटुम्ब बहुत सुखी होता है। उसमें शान्ति सन्तोष का संचार होता रहता है। अगर उसमें धन की कमी हो तो भी वे दुखी नहीं होते। इसके विपरीत जिस परिवार में कलह का बाजार गर्म रहता है, प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को दुश्मन की निगाह से देखता है, आपस में प्रेमभाव नहीं होता, वह परिवार धन-धान्य से समृद्ध होने पर भी सुख-शान्ति का उपभोग नहीं कर सकता। गृहस्थजीवन की सुख-शान्ति का मूल मन्त्र कुटुम्बी जनों का पारस्परिक स्नेहमय सद्व्यवहार ही है। सास अगर बहू को

अपने पुत्र का सहारा कहती है तो बहू कहती है—माँ जी ! आप तो हमारे भाग्य का छत्र है । इसके विपरीत सास अगर बहू को कुलच्छनी बतलाती है तो बहू, सास को डाकिन और (चुड़ैल) कहती है । अगर तुम गृहस्थ हो और गृहस्थ ही रहना चाहते हो तो पारिवारिक सुख-शान्ति की मूलभूत बातों पर विचार करो । तुम्हारा पारिवारिक जीवन सुखपूर्ण और शान्तिमय होगा तो धर्म-ध्यान की ओर भी चित्त जाएगा । अगर चित्त में सदा क्रोध ही भरा बना रहा, घर कलह का अखाड़ा बना रहा तो धर्म की ओर मन प्रेरित नहीं होगा । यह लोक भी बिगड़ेगा और परलोक भी बिगड़ेगा । अतएव गृहस्थी चलाना सीखो । गृहस्थ के भी कुछ नियम होते हैं, कुछ मर्यादाएँ होती हैं ।

प्रदान किया था ? कीड़ियों की प्राणरक्षा के लिए उन्होंने अपने प्राणों का भी मोह नहीं किया। श्री अरिष्टनेमि भगवान् ने पशुओं की करुणा से प्रेरित होकर राजीमति का परित्याग कर दिया। इसलिए भाइयों ! दया के स्वरूप को समझो और दयामय ही व्यवहार करो ! दया, करुणा, यतना, रक्षा, विवेक आदि किसी भी नाम से कहो, बात एक ही है। जिसने दया की, वह तर गया। अगर तुम संसार कान्तार से बाहर निकलना चाहते हो तो दया का आश्रय लो।

एक आदमी कहता है—'फलां साहब बड़े अच्छे हैं और खूब पैसे वाले हैं।' दूसरा कहता है—'पैसे वाले हुए तो क्या हुआ ? उन्हें बोलने का तो तमीज ही नहीं है।' यह लो, बोलने के अविवेक ने उसकी प्रशंसा पर पानी फेर दिया ! भाइयों ! 'वचने का दरिद्रता !' अरे, बोलने में क्यों दरिद्रता दिखलाते हो ? मीठे बोल बोलने से तुम्हारा क्या खर्च हो जायगा ? इससे तो उलटी तुम्हारी प्रशंसा ही होगी और बदले में तुम्हें भी मीठे बोल सुनने को मिलेंगे।

कोई व्यक्ति तुम्हारे द्वार पर आया। 'आइये, पधारिये, साहब !' कह कर तुमने उसका स्वागत किया। ऐसा करने में तुम्हारी क्या हानि हो गई ? हानि कुछ भी नहीं हुई, बल्कि लाभ हुआ। तुम्हारी प्रतिष्ठा बढ़ी, आगन्तुक के हृदय में तुम्हारे प्रति आदर का भाव जाग उठा, तुम्हारा सौजन्य प्रकाशित हुआ और तुम जब उसके द्वार पर जाओगे तो आदर पाओगे। इसके विरुद्ध अगर तुम उसके आने पर गूंगे की तरह बैठे रहे और आगत का स्वागत करने के लिए एक भी शब्द मुंह से न बोल सके तो तुम्हें

क्या लाभ हो गया ? तुम उनकी अप्रीति और अनादर के ही पात्र बनोगे ।

इसका आशय यह है कि जीवन में पग-पग पर विवेक की आवश्यकता है । विवेक के बिना जीवन सुखमय, शान्तिमय और सन्तोषमय कदापि नहीं बन सकता । चाहे कोई साधु हो या गृहस्थ हो, विवेक प्रत्येक के लिए अनिवार्य है । जो विवेकशील होगा वही साधुत्व का पालन कर सकेगा । मूर्ख क्या साधुपना पालेगा ? साधुपना तो बुद्धिमान् और विवेकवान् का है । कई लोग साधुपन को तमाशा समझते हैं । पर उन्होंने साधुता के वास्तविक स्वरूप को समझा नहीं है ।

'ज' और 'न' इन दो अक्षरों के मिलने से 'जन' शब्द बनता है । 'जन' में जब दो मात्राएँ लगाई जाती हैं तो 'जन' से 'जैन' शब्द बनता है । आप जानते हैं कि एक मात्रा को हजम करने में भी कितना कष्ट होता है और कितनी शक्ति की आवश्यकता होती है ? हीरे की तरह, मोती का चूरा आदि मात्राएँ कहलाती हैं । ऐसी एक मात्रा को हजम करने के लिए कितना ही संयम और पथ्य पालना पड़ता है । यदि उन पर यह तरावट की चीज न खाई जाएँ तो शरीर को हानि पहुँचती है । ऐसी स्थिति में दो मात्राओं को हजम करने के लिए क्या कम सामर्थ्य चाहिये ? ज्ञान और चारित्र की दो मात्राएँ जब लगती हैं तब उन को 'जैन' पद प्राप्त होता है ।

है। इसी मार्ग पर चल कर अनन्त आत्माओं ने अपना अनुपम कल्याण साधन किया है और भविष्य में भी जिनका कल्याण होने वाला है, इसी मार्ग पर चलने से होगा। इसके अतिरिक्त आत्म कल्याण का और कोई मार्ग नहीं है।

भविष्यदत्त–चरित:—

भविष्यदत्त के जीवन चरित से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है। भविष्यदत्त ने अब तक जो उन्नति की और आगे जो भी उन्नति करेगा, उसके मूल में भी ज्ञान और चारित्र ही है।

भविष्यदत्त ने विमल बुद्धि मुनिराज के समक्ष खड़े होकर विनयपूर्वक प्रश्न किया कि मैं क्या करणी करके आया हूँ? मुनिराज अवधिज्ञान के धारक थे। उन्होंने अवधिज्ञान का उपयोग लगा कर भविष्यदत्त के पूर्व वृत्तान्त को जान लिया और तत्पश्चात् इस प्रकार प्रश्न का समाधान किया:—

ऐरावत क्षेत्र में अरिकुल नामक नगर था। उस नगर के प्रधान का नाम विजोयर था उसकी पुत्री कृतसेना थी। प्रधान ने विलमित्र नामक एक युवक के साथ अपनी कन्या का विवाह कर दिया। प्रधान का यह जामाता दुर्व्यसनी था। उसे अपनी जाति और समाज का भी खयाल न रहा। शास्त्र में सात कुव्यसन वतलाये गये हैं। किसी व्यक्ति में जब एक व्यसन पूरी तरह घर कर जाता है तो वह दूसरे व्यसनों का शिकार हुए बिना नहीं रहता। विलमित्र का यही हाल हुआ। वह सातों कुव्यसनों शिकार हो गया। प्रधान की कन्या कृतसेना अपने पति की

है। इसी मार्ग पर चल कर अनन्त आत्माओं ने अपना अनुपम कल्याण साधन किया है और भविष्य में भी जिनका कल्याण होने वाला है, इसी मार्ग पर चलने से होगा। इसके अतिरिक्त आत्म कल्याण का और कोई मार्ग नहीं है।

भविष्यदत्त–चरित:—

भविष्यदत्त के जीवन चरित से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है। भविष्यदत्त ने अब तक जो उन्नति की और आगे जो भी उन्नति करेगा, उसके मूल में भी ज्ञान और चारित्र ही है।

भविष्यदत्त ने विमल बुद्धि मुनिराज के समक्ष खड़े होकर विनयपूर्वक प्रश्न किया कि मैं क्या करणी करके आया हूँ? मुनिराज अवधिज्ञान के धारक थे। उन्होंने अवधिज्ञान का उपयोग लगा कर भविष्यदत्त के पूर्व वृत्तान्त को जान लिया और तत्पश्चात् इस प्रकार प्रश्न का समाधान किया:—

ऐरावत क्षेत्र में अरिकुल नामक नगर था। उस नगर के प्रधान का नाम विजोयर था उसकी पुत्री कृतसेना थी। प्रधान ने बिलमित्र नामक एक युवक के साथ अपनी कन्या का विवाह कर दिया। प्रधान का यह जामाता दुर्व्यसनी था। उसे अपनी जाति और समाज का भी खयाल न रहा। शास्त्र में सात कुव्यसन बतलाये गये हैं। किसी व्यक्ति में जब एक व्यसन पूरी तरह घर कर जाता है तो वह दूसरे व्यसनों का शिकार हुए बिना नहीं रहता। विलमित्र का यही हाल हुआ। वह सातों कुव्यसनों का शिकार हो गया। प्रधान की कन्या कृतसेना अपने पति की

हालत देख-देख कर अत्यन्त दुःख का अनुभव करती थी। वह अपने पति को दुर्व्यसनों से बचा कर सत्पथ पर लाने का जी-जान से प्रयत्न करती थी, मगर सफल मनोरथ नहीं हो सकी।

एक बार की बात है। कृतसेना ने अपने पति को विनय के साथ समझाने का प्रयत्न किया। उसकी हितावह और विनम्रता-युक्त बात भी विलमित्र को सहन नहीं हो सकी और उसने कृत-सेना पर बहुत क्रोध किया। कृतसेना को रुलाई आ गई। परन्तु वह सच्ची पतिव्रता स्त्री थी। वह पति को हृदय से पवित्र-चरित्र देखना चाहती थी। अतएव उसने अच्छा खान-पीना त्याग दिया। गांव के बाहर रहे हुए एक तापस के पास जाकर वह उसकी सेवा करने लगी।

उसी नगर में धनदत्त नामक एक वणिक् रहता था। धरणेन्द्रा उसकी पत्नी का नाम था। धनदत्त का पुत्र धनमित्र जब विवाह के योग्य हुआ तो किसी दूसरे वणिक् की कन्या के साथ उसका विवाह हो गया। धनमित्र भी उसी तापस की सेवा में जाया करता था।

संयोग की बात! कभी-कभी कृतसेना और धनमित्र दोनों का तापस के स्थान पर सम्पर्क हो जाया करता था। धीरे-धीरे धनमित्र के सुन्दर रूप को देख कर कृतसेना का चित्त उसकी ओर आकृष्ट हो गया। उसकी छवि देखती-देखती कृतसेना कामान्ध हो जाती है। उसके मन में काम का विष व्याप्त हो जाता है।

भाइयों! यह काम-विकार अत्यन्त प्रबल है। इसके चंगुल

में फँसने से बच निकलना आसान नहीं है। बड़े-बड़े तपस्वी और बड़े-बड़े विद्वान् भी इसके वशीभूत हो जाते हैं। कृतसेना विवेकवती थी और अपने पति को दुर्व्यसनों से मुक्त करने की इच्छा करती थी, फिर भी उसका चित्त चलायमान हो गया।

एक दिन तापस के यहां फिर दोनों का मिलान हो गया। धनमित्र जब तापस की उपासना करके लौटने लगा तो कृतसेना भी उसके पीछे-पीछे जाने लगी। धनमित्र अपने घर पहुँचा। उसकी भावना तनिक भी दूषित नहीं थी और कृतसेना के चित्त के विकार का उसे पता नहीं था। वह अपने घर में घुस गया और भीतर जाकर पलंग पर लेट गया। कृतसेना भी उसके द्वार पर पहुँची। द्वार पर धन मित्र की पत्नी मिली। उसने कृतसेना को दीवान की लड़की समझ कर उसका सत्कार किया और उसे उदास देख कर पूछा – आज आप शोकातुर क्यों मालूम होती हैं? क्या आपकी सासू नाराज हुई हैं या पति नाराज हुए हैं?

कृतसेना ने कहा—तेरे पति अति मतिमोहन हैं? वे कहाँ हैं?

गृहिणी बोली—मेरे पति भीतर हैं। आपको बातचीत करनी हो तो भीतर पधारिये।

गृहिणी ने सीधे-सादे ढंग से जो उत्तर दिया, कृतसेना पर विचित्र प्रभाव पड़ा। वह यकायक चौंक पड़ी और सोचने लगी—हाय! मेरी बुद्धि क्यों बिगड़ गई है? मैं क्यों अपने अनल धर्म रूपी धन को लुटाने के लिए तैयार हुई हूँ? थोड़ी-सी

जिन्दगी के लिए, अल्प सुख के वास्ते मैं पापाचार के सेवन का विचार कर रही हूँ। मुझे धिक्कार है ! मैं क्यों पथभ्रष्ट हुई ? मेरे मन में मोह-विकार क्यों उत्पन्न हुआ ? इस प्रकार अपने आपको धिक्कारती हुई कृतसेना अपने घर लौट आई। उसने सिर्फ इतना कहा—तेरे पति आज से मेरे धर्मभाई हैं।

अवसर पाकर कृतसेना ने अपने पिता से कहा—धनमित्र मेरा धर्मभ्राता है। वह सुन्दर, सदाचारी, धर्मनिष्ठ, न्यायशील और उदार हैं। नगरसेठ होने की सभी योग्यता उसमें मौजूद है। अगर आप उसे नगरसेठ का पद प्रदान करें तो नगर का सौभाग्य होगा।

दीवान ने प्रसन्न होकर धनमित्र को अपने पास बुलाया और अपने साथ ले जाकर राजा को उसका परिचय दिया। राजा ने धनमित्र के व्यवहार और गुणों से सन्तुष्ट होकर उसे नगरसेठ का पद प्रदान किया।

कृतसेना के मन में पहले जो कुत्सित विचार हुए थे, उन्हें उसने छिपाया नहीं। वे विचार परिवार वालों पर प्रकट हो गए और अब जो शुद्ध विचार उत्पन्न हुए थे, वे भी उनको मालूम हो गये।

इस प्रकार सब आनन्द और सन्तोष के साथ रहने लगे। भाइयों ! कभी-कभी चित्त में विकार उत्पन्न हो जाते हैं, किन्तु धर्मप्रेमी जनों का कर्त्तव्य है कि वे कृतसेना की तरह उन्हें बाहर निकाल फेंकें और शीघ्र ही निर्विकार दशा को प्राप्त हों।

१०-११-४८ }
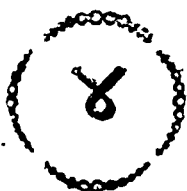
छलिया जोव !

स्तुतिः—

मन्ये वरं हरिहरादय एव दृष्टा:—
दृष्टेषु येषु हृदयं त्वयि तोषमेति ।
किं वीक्षितेन भवता भुवि येन नान्यः,
कश्चन मनो हरति नाथ ! भवान्तरेऽपि ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं कि–हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त शक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन् ! आपकी कहाँ तक स्तुति की जाय ? हे प्रभो ! आपके कहाँ तक गुण गाये जाएं ?

भगवन् ! कोई किसी देव को मानता है और कोई किसी देवता की उपासना करता है । लोग जब उनकी तरफ देखते हैं तो

ऐसा लगने लगता है कि शायद यह भी तारने वाले होंगे। जिनकी सेवा में हजारों आदमी जाते हैं, उनके विषय में यह खयाल हो जाना स्वाभाविक है कि इनके पास भी कुछ न कुछ विशेषता होगी। किन्तु हे प्रभो ! जो आपके परम वीतराग स्वरूप को देख लेता है और परम कल्याणकारिणी वाणी को श्रवण कर लेता है, उसका हृदय प्रफुल्लित हो जाता है। उसकी अन्तरात्मा में व्याप्त सभी संशय दूर हो जाते हैं। उसे आपके प्रति ऐसी प्रगाढ़ प्रीति और श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है कि इस जन्म में तो क्या, जन्मान्तर में भी उसे कोई डिगा नहीं सकता।

जो लोग संसार के राग-द्वेष से दूषित देवी-देवताओं के सामने मस्तक रगड़ने के बाद आपकी सेवा में आता है और आपकी उपासना करता है, वह यही सोचने लगता है कि-अच्छा हुआ, पहले दूसरे देवों के साथ मेरा पाला पड़ गया। इससे मुझे तुलना करने का अवसर तो मिल गया ! जिसने पीतल देखने के पश्चात् सोना देखा है वह पीतल और सोने की तुलना करके सोने की विशिष्टता को समझ सकता है। जिसने जूगनू के प्रकाश को जान लिया है और फिर सूर्य के प्रकाश को समझा है, वह दोनों की अच्छी तुलना कर सकता है। इसी प्रकार रागी और वीतराग दोनों प्रकार के देवों को देखने वाला वीतराग भगवान् की महिमा को अधिक अच्छी तरह समझ सकता है। अतएव आचार्य महाराज कहते हैं कि रागी देवों को देखना एक प्रकार से अच्छा ही हुआ। उसी की बदौलत वीतराग भगवान् पर प्रगाढ़ आस्था उत्पन्न होती है-ऐसी आस्था जो जन्मान्तर में भी भंग नहीं हो सकती ! ऐसे ही वीतराग भगवान् ऋषभदेव हैं। उन्हीं को हमारा वार-वार नमस्कार हो।

भाइयों ! प्रभु के प्रति जब प्रगाढ़ श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है तो आत्मा में उसके संस्कार खूब गहरे जम जाते हैं । संस्कारों की गहराई के कारण आत्मा जब परलोक में जाती है, नवीन जन्म धारण करती है, तब भी उसमें वह संस्कार बना रहता है। जो लोग बालकों के मानस के ज्ञाता है, वे भलीभांति जानते हैं कि एक ही उम्र के और एक ही सरीखे वातावरण में पाले-पोसे जाने वाले बालकों में भी अनेक प्रकार की विषमताएँ होती हैं । उनकी रुचि भिन्न-भिन्न होती है, पसन्दगी अलग-अलग होती है, विचारों में पार्थक्य होता है और आचार में भी भिन्नता होती है । विद्वान् लोग इस विसदृशता का जब कोई ऐहिक कारण नहीं पाते तो अन्त में यही स्वीकार करते हैं कि पूर्वजन्म के संस्कारों की भिन्नता ही इस जन्म की रुचि आदि की भिन्नता के कारण है । इससे यह बात प्रमाणित होती है कि प्राणी मात्र पूर्वजन्म के संस्कारों के साथ इस जन्म में आती है—कोरा नहीं आता । वास्तव में पूर्वजन्म के प्रबल संस्कार आगे के जन्मों को प्रभावित करते है । शास्त्रों में इस सच्चाई को सिद्ध करने वाले सैंकड़ों ही नहीं, हजारों उदाहरण मौजूद हैं । ऐसी स्थिति में भगवान् ऋषभ-देवजी के ऊपर अगर प्रगाढ़ श्रद्धा उत्पन्न हो जाय तो वह जन्मान्तर में भी नहीं जा सकती है ।

भगवान् की वाणी पर एक बार निर्मल श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है तो वह प्रायः जाती नहीं है । कदाचित् उसमें रूपान्तर होता है तो भी वह स्थायी नहीं होता । कुछ समय के पश्चात् श्रद्धा का रूप फिर ज्यों का त्यों हो जाता है । एक बार श्रद्धा आई और समझ लो कि उस जीवन का निस्तार हो गया । वह निश्चित रूप से मोक्षगामी हो गया ।

व्रत, प्रत्याख्यान, त्याग आदि इसी जन्म के लिए होता है। जैसे श्रावक ने बारह व्रतों को धारण किया अथवा साधुपना ले लिया तो वह कब तक के लिए है ? जब तक यह शरीर विद्यमान है तभी तक के लिए वह सब आचार है। इस शरीर से जीव निकल जाने के पश्चात् न त्याग रहता है, न व्रत रहते हैं, न प्रत्याख्यान रहता है और न साधुपना रहता है। क्योंकि साधु या श्रावक जो भी व्रत-प्रत्याख्यान करता है वह 'जावज्जीव' अर्थात् जीवन पर्यन्त के लिए करता है, कोई प्रत्याख्यान कम समय के लिए तो हो सकता है, परन्तु जीवनकाल से अधिक—आगे—के लिए नहीं हो सकता अभी कोई भाई यदि हरितकाय का त्याग करे, रात्रि भोजन का त्याग करे या शीलव्रत को धारण करे तो जब तक यह जीवन है, तभी तक के लिए वह त्याग समझा जायगा। इसी प्रकार की धारणा के साथ त्याग किया जाता है और इसी धारणा से त्याग कराया जाता है। तात्पर्य यह है कि कोई भी त्याग या प्रत्याख्यान क्यों न हो, मौजूदा जीवन से आगे के लिए, जन्मातर के लिए, नहीं होता मगर श्रद्धा के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। श्रद्धा तो जन्म-जन्मान्तर के लिए होती है। इस प्रकार श्रद्धा त्याग से भी बड़ी है और केवलज्ञान से भी बड़ी है। श्रद्धा होने पर ही सच्चा त्याग एवं केवलज्ञान हो सकता है। अतएव श्रद्धा उनका मूल है। इसीलिए शास्त्रों में श्रद्धा की बड़ी महिमा गाई गई है। कहा है:—

सद्धा परम दुल्लहा ।

भाइयों ! यह दुर्लभ श्रद्धा जिसे प्राप्त है, उसका दिया हुआ दान, पाला हुआ शील, की हुई तपस्या और उपार्जन किया हुआ

ज्ञान सार्थक होता है, शुद्ध होता है। इसके विपरीत जिसकी श्रद्धा अशुद्ध है, उसका दान, शील, तप, भावना, साधुपन आदि सभी कुछ आचरण अशुद्ध है।

कल्पना कीजिए, किसी मटके में अफीम भरी हुई है। किसी ने वह अफीम निकाल ली और उसमें गर्म जल भर दिया। वह गर्म जल पीने वाले को कटुक लगेगा या नहीं ? और उसे नशा आएगा या नहीं ? यही नहीं, कदाचित उस पानी को पीने वाले की मृत्यु भी हो सकती है। यद्यपि पानी में कटुकता नहीं है, नशा उत्पन्न करने का गुण नहीं है और मारने की शक्ति भी नहीं है, फिर भी अफीम के संसर्ग के कारण उसमें यह सब उत्पन्न करने की शक्ति आ जाती है। इसी प्रकार दान, शील, तप, भावना, व्रत, प्रत्याख्यान आदि स्वभावत: अशुद्ध नहीं है, किन्तु अशुद्ध श्रद्धा के कारण—संसर्ग दोष से उनमें अशुद्धता आ जाती है।

कोई सोच सकता है कि मुझे तो प्यास बुझाने से मतलब है। फिर उस पानी को क्यों न पी लूँ ? मगर भोले भाई ! वह तो अफीम का मटका है ! उसके पानी से प्यास ही नहीं बुझेगी, कदाचित जीवन का दीपक भी बुझ जायगा ! इसी प्रकार अशुद्ध श्रद्धा धर्म जीवन का विनाश कर डालती है अतएव सर्व प्रथम आत्म कल्याण के अभिलाषी पुरुष को अपनी श्रद्धा निर्मल बनानी चाहिए।

श्रद्धायुक्त होकर जो करणी की जाती है, उससे आवागमन घटता है और श्रद्धा के अभाव में की जाने वाली करणी से आवा-

गमन में वृद्धि होती है। मगर श्रद्धा का आना कठिन है। हरी का खंध करना, व्रतों का पालन करना, अनशन आदि तपस्या कर लेना और साधु का वेष धारण कर लेना उतना कठिन नहीं है, जितनी विशुद्ध श्रद्धा का प्राप्त हो जाना कठिन है। और जिसे श्रद्धा प्राप्त हो जाती है, उसे देवता भी आकर क्यों न डिगाने की कोशिश करे, वह अडिग ही रहेगा। प्रियधर्मी वन जाना सरल है मगर दृढ़धर्मी वनना कठिन है। वीतराग भगवान् के वचनों पर जिसकी श्रद्धा है, उसकी क्रिया कल्याण का कारण होती है।

भाइयों ! अगर आपको संसार से विरक्ति हुई है, अगर आप जन्म-मरण के दुःखप्रद वन्धनों से छुटकारा पाना चाहते हैं, अगर आप जगत् के त्रिविध संताप से वच कर अक्षय शान्ति प्राप्त करना चाहते हैं और यदि आपके अन्तःकरण में आत्मा का अक्षय कल्याण करने की पवित्र भावना उदित हुई है तो आपके लिए यही उचित है कि आप अपनी श्रद्धा को पूर्ण रूप से निर्मल वनावें और फिर ज्ञान तथा चारित्र की आराधना करें।

भगवान् ने फर्माया है कि जीव तीन कारणों से अल्प आयु पाता है और तीन कारणों से दीर्घ आयु पाता है। श्रीठाणांग-सूत्र में कहा है:—

कोई आदमी कहता है—आह ! राम-राम, वारह वर्ष का छोकरा मर गया ! कोई आश्चर्य करता हुआ कहता है—अरे रे ! अठारह वर्ष का नौजवान चल वसा ! किन्तु उन्हें यह नहीं मालूम है कि वह कम आयु लेकर आया था। तुम राम-राम करते हो मगर उसकी पूंजी समाप्त हो गई थी !

जितनी आयु लेकर आया था, वह समाप्त हो गई थी। मगर देखना यह है कि उस जीव ने अल्प आयु किस कारण से पाई थी? वह छोटी सी उम्र में ही क्यों मर गया?

भगवान् महावीर स्वामी, गौतम से कहते हैं—हे गौतम! कोई जीव छहकाय के जीवों का आरम्भ करता है, पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजस्काय, वायुकाय, और वनस्पति की हिंसा करता है, हरे वृक्ष कटवाता है, अपने ऐश-आराम के लिए या धर्म समझ कर अथवा अर्थोपार्जन के लिए अथवा मोक्ष प्राप्त करने के लिए हिंसा करते हैं, कीड़े-मकोड़े, जूं, लीख, मक्खी, मच्छर आदि प्राणियों की हिंसा करते हैं, मछलियाँ पकड़-पकड़ कर खा जाते हैं, गायों को कत्ल करके खा जाते हैं, भैंसों-पाड़ों को खा जाते है, अण्डे चूसते हैं और न जाने ऐसे-ऐसे कितने पाप करते हैं।

प्रश्न किया जा सकता है कि संसार के हजारों लाखों आदमी ऐसे पाप करते हैं तो क्या सभी नरक में जाएँगे? साधु तो बस, बात-बात में नरक का फतवा दे डालते हैं। ऐसा कहने वाले लोगों को सोचना चाहिए कि एक-एक बम गिरने से लाखों आदमियों का एक साथ संहार क्यों हो जाता है? क्या किसी विशिष्ट अन्तरंग कारण के बिना ही यह ऐसी विशिष्ट घटना का होना सम्भव है? वास्तव में जिसने दूसरे जीवों की आयु का छेदन किया है, उन्हें अल्प आयु में मारा है, वह खुद भी अल्पायुष्क होकर जन्म लेता है और समय में ही मर जाता है।

जिस कैदी की कैद की मियाद खत्म हो चुकी हो, जेलर उसे एक भी मिनिट ज्यादा नहीं रख सकता। इसी प्रकार आयु के

समाप्त हो जाने पर जीव एक पल पर भी जीवित नहीं रह सकता। चाहे कोई तावीज बाँधे, चाहे भैरों-भवानी के सामने मत्था रगड़े या और कोई उपाय करे, मगर आयु समाप्त होने पर उस जीव को शरीर का त्याग करना पड़ेगा। कोई एक पल भी फिर नहीं रह सकता। आयु पूर्ण हुई कि बस, राम-राम सत्य है !

तात्पर्य यह है कि षट् काय की हिंसा करने वाला अल्प आयुष्य का बन्ध करता है।

दूसरे, जो बहुत झूठ बोलता है, झूठी गवाही देता है, साक्षात् किये को भी नहीं किया हुआ कहता है और लट्ठ पड़ने पर किया कबूल करता है, वह भी अल्प आयु बाँधता है। बहुत से लोग ऐसे होते है कि जहाँ पानी बतलाते हैं वहाँ कीचड़ भी नहीं मिलता ! वे अव्वल दर्जे के झूठे होते हैं। आटे की चुटकी भी नहीं और नमक की रोटी बनाते हैं ! ऐसे-ऐसे मिथ्यावादी भी अल्प आयु में ही मृत्यु के ग्रास होते हैं।

इधर बींदणी व्याह कर लाया और खुशी से नाच उठा और ज्यों ही रात हुई कि चल बसा !

बींदणी मन में सोचती है कि मैं कैसी भाग्यशालिनी हूँ जो ऐसे अच्छे बींद मुझे मिले है ! और दूसरे दिन ही उसे अपने हाथों की चूड़ियाँ फोड़नी पड़ती हैं ! यह सब दारुण दशा क्यों होती है ! इसका कारण है झूठ बोलना। अतएव गाँठ बाँध लो कि जो जितना झूठ बोलेगा, उसे उतनी ही कम आयु मिलेगी और फलस्वरूप उतनी ही जल्दी उसे मरना पड़ेगा।

एक नवयुवक विलायत जाकर परीक्षा में उत्तीर्ण होकर वापिस लौटा। कुटुम्बीजन फूले न समाये। तरह-तरह के मन्सूबे बाँधने लगे। सोचने लगे कि अब तीन हजार मासिक की नौकरी मिलेगी। सारे परिवार के दिन फिर जाएँगे। धन भी बढ़ जायगा और प्रतिष्ठा भी बढ़ जायगी। नवयुवक रात्रि में बिस्तर पर सोया और हृदय की गति बन्द हो गई सो फिर उठ ही नहीं सका! सब की आशाओं पर तुषारपात हो गया। कहो, यह किसका नतीजा है? झूठ बोलने का।

एक मनुष्य झूठ बोला और दूसरे ने कहा—तूने बहुत अच्छा किया। यार, क्या तरकीब से जवाब दिया! तूने सच्चे को झूठा और झूठे को सच्चा बना दिया! शाबास, क्या शिकार खेली है! इस प्रकार कह कर जो असत्यभाषी की सराहना और अनुमोदना करते हैं, वे भी असत्य भाषण के पाप के भागी होते हैं। परभव में अल्प आयु में उसकी मृत्यु होगी और अपने कुटुम्बी जनों को रोता-बिलखता छोड़ कर वह असमय में ही काल के गाल में चला जायगा। जिन लोगों ने पूर्व भव में उसके झूठ बोलने के सराहना की थी, वे इस भव में उसके कुटुम्बी के रूप में जन्मते हैं और उसकी मृत्यु होने पर दुखी होते हैं। इस प्रकार अल्प-आयु बाँधने का दूसरा कारण असत्य भाषण करना है।

तीसरा कारण साधु-साध्वी को अपथ्य और अशुद्ध आहार-पानी देना है। शुद्ध संयम का पालन करने वाले और निर्दोष भिक्षा लेकर जीवनयात्रा का निर्वाह करने वाले साधु को अथवा साध्वी को जो लोग दूषित आहार या पानी देते हैं, वे भी ... होते हैं।

भाइयों ! इन तीन कारणों से जीव को अल्प आयु की प्राप्ति होती है और तीन कारणों से दीर्घ आयुष्क प्राप्त होता है। वे तीन कारण इनसे उलटे समझने चाहिए। यथा - हिंसा न करना, मिथ्याभाषण न करना और साधु-साध्वो को सूझता और पथ्यकारी आहार-पानी प्रदान करना। इन तीन कारणों का सेवन करने वाला जीव लम्बी आयु पाने के साथ-साथ नीरोग शरीर भी पाता है। मरुदेवो माता को देखो। उन्हें कभी आर्त्त-ध्यान करने का अवसर नहीं आया, कभी किसी प्रकार का दुःख सहन करने का प्रसंग उपस्थित नही हुआ। ऐसा नहीं हुआ कि आज घर में यह चीज नहीं है या उस चीज को जरुरत है मगर मिलती नहीं। वह जीव भरे भंडार पाता है। सब इच्छित पदार्थ उसे सुलभ होते हैं। उदाहरण के लिए महाराणा भोपालसिंहजी को ले लो। एक बार हम उदयपुर गये तो महाराणा मुझे एक वस्त्र देने लगे। मैंने उस वस्त्र को कीमत पूछी तो उन्होंने कहा- यह टुकड़ा करीव ३००) रुपये का होगा ! मैंने उस टुकड़े को लेने की अनिच्छा प्रकट की। कहा—इतनी ऊँची कीमत का वस्त्र मुझे नहीं चाहिए। जंगल में चोरों ने पीछा किया तो क्या करेंगे ? हम तो साधारण ही वस्त्र उपयोग में लेते हैं। तव महाराणा कहने लगे-मेरे पास एक लाख रुपये का कपड़ा मौजूद है। आपको जो पंसन्द हो सो ले लीजिए।

कहने का आशय यह है कि हिंसा आदि से बचने वाला ऐसा पुण्य लेकर आता है कि उसे किसी भी वस्तु का अभाव नही होता। समस्त इष्ट पदार्थ उसके लिए सुलभ होते हैं।

आराम दोगे तो आराम पाओगे, तकलीफ दोगे तो

तकलीफ पाओगे। जैसा करोगे वैसा ही फल पाओगे।

आखिर क्या चाहता है तू ? आराम ? तो दूसरों को आराम पहुँचा। किसी को तकलीफ मत दे, झूठ मत बोल और साधु-सन्तों को शुद्ध आहार-पानी, औषध-भेषज आदि आवश्यक वस्तुएँ दे, अशुद्ध मत दे। ऐसा करने से तेरा अगला जीवन सुखमय बनेगा। तुझे किसी भी प्रकार के अभाव का सामना नहीं करना पडेगा, असमय मृत्यु का शिकार न होगा और सभी प्रकार की अनुकूलताएँ उपलब्ध होंगी।

एक बार विहार करते-करते धुन बँधी तो एक भजन बना कर तैयार किया था। वह इस प्रकार है–

जाओ जाओ ऐ चेतन तेरा, कौन करे विश्वास ।।टेर।।
मैं तो तेरी कभी न मानूं, तू पूरा है छलिया।
जो तेरे से प्रेम करे तू उससे भी नहीं टलिया ।। १ ।।

इस जीव से कहा गया है कि जाओ, जाओ, कौन तुम्हारे ऊपर विश्वास करें ? तेरी वात मैं हर्गिज मानने वाला नहीं हूँ। तू छल करने वाला है, धूर्त्त है। जिसने तुझ पर ऐहसान किया, तुझे दूध पिलाया, छाती से लगाया, स्वयं सैकड़ों कष्ट सहन करके तुझे सुखी रखने का सदा प्रयास किया, उसी माता की छाती कुटवा-कुटवा कर तू चला गया ! जिस पिता ने तुझे अपना सर्वस्व समझा और तुझे सुखी बनाने का भरसक प्रयत्न किया, जिसने लाड़-प्यार से पाला-पोसा, उसी का सर्वस्व छीन कर उसे दुखी करके तू चला गया ! अरे तू अपने माता-पिता से भी न चूका। ऐसी स्थिति में कौन तुझ पर भरोसा करे ?

घर वनवाया रहा अधूरा लेन देन भी बाकी ।
घर में बूढ़ा बाबा बैठा, उसकी कान न राखी ।

कहता है--पुराना मकान हमें पसंद नहीं है । अतएव लाखों की लागत की पुरानी हवेली तुड़वा दो और नये फैशन की बिल्डिग वनवाना शुरू किया । घर में अस्सी वर्ष का डोकरा बैठा है । वह बैठा रहा और हवेली अधूरी रह गई और वह अचानक चल दिया ! कहो भाई, जिसने अस्सी वर्ष के बूढ़े की घोर मानसिक पीड़ा का भी तनिक विचार न किया, उसके समान निठुर और वेईमान कौन होगा ?

सुन्दर नार देख कर व्याया, कंगन खुल नहीं पाया ।
गया स्नान करने को ऐसा, फिर पीछा नहीं आया ।।

भाइयों ! आज का नवयुवक कहता है--हम यूं विवाह नहीं करेंगे । हमारे लिए लड़की का फोटो मंगाओ । फोटो आता है तो आंखें गड़ा-गड़ा कर उसे देखता है और अन्त में कहता है-इसकी तो नाक बैठी हुई है ! या इसके कान अच्छे नहीं है । इसके दांतों की पंक्ति अच्छी नहीं है ' इस प्रकार कई लड़कियों के फोटो मंगवाये गए । तव कहीं कुंवरसाहव ने एक लड़की को पसंद किया । वाप ने हजारों रुपये खर्च किये और धूमधाम से विवाह हुआ । कितने ही नखरे किये । बींद वन कर बींदणी को ब्याह लाया । दोनों एक दूसरे को देख कर राजी हुए । विवाह के पश्चात् कंकण खुलने का समय आया तव कुंवर साहव बोले—मैं स्नान करके आता हूं । सीधा कुए पर स्नान करने के लिए

गया और ज्योंही कुए में झाँका कि पैर फिसल गया ! कुए के भीतर गड़प हो गया। नवविवाहिता पत्नी ने जाते की पीठ देखी, किन्तु आते का मुँह नहीं देख पाया। बस, फिर क्या है ? सारे परिवार में कुहराम मच गया। कोई छाती पीटता है, कोई सिर धुनता है, कोई धाड़ पाड़ कर रो रहा है। इसीलिए कहा गया है कि ऐ चेतन ! तू बड़ा धोखेबाज है। तेरा विश्वास कौन करे ? बुद्धिमान तेरा विश्वास नहीं करते। अरे, कुए में गिरना था तो यह सब अड़ंगा क्यों किया ?

अनन्त मात-पिता कर लीने हंसा-हंसा रुलवाया।
इसी तरह से पुण्योदय से, मानव का तन पाया ॥

हिन्दुओं और मुसलमानों का झगड़ा हुआ तो एक आदमी ने विचार किया—अपने लड़के को इसके ससुराल के गांव में भेज दूँ तो वहां सुरक्षित रहेगा। लड़का वहां जा पहुँचा और जब नदी में स्नान करने गया तो वहीं डूब कर मर गया। अरे जीव, क्या विश्वास है तेरा ? तू अनन्त माता-पिता बना चुका है और उन सब को अनन्त-अनन्त बार रुला चुका है। न जाने कितनों को रुलाने के बाद तू ने यह मनुष्य जन्म पाया है ?

यहां चन्द रोज के ख़ातिर, बनाया बाग में बंगला।
कोई पूछे तो यों कहते, मकां यह तो हमारा है ॥

अरे प्राणी ! तेरी जिन्दगानी कितनी-सी है ? चार दिनों के लिए यहां आया है। यहां आकर तूने बड़ी-बड़ी पदवियाँ प्राप्त कर लीं। सोने की मोटर द्वार पर खड़ी है। वैभव के झूले में झूल

रहा है। ऐश्वर्य का पार नहीं है। घूमने जाने को तैयार है। मगर जरा पानदान लेने को भीतर गया कि रास्ते में पांव फिसल गया। धड़ाम से धरती पर गिरा। मर्मस्थान पर चोट आ गई और सदा के लिए सो गया! खेल खत्म हो गया। बंगला यों ही पड़ा है। जिसने कहा था अभिमान के साथ कि यह बंगला हमारा है, वह चला गया और बंगला आज भी वहीं का वहीं खड़ा है। वह अपने साथ बंगले को नहीं ले जा सका और न बंगला उसके साथ गया! फिर किस अर्थ में बंगला उसका था? क्या मोही जीव की कल्पना नहीं है?

यह धन तेरा यह धन मेरा, मैं किसका रखवाला हूं।
मर कर गया कहां पर तेरा खुला पड़ा है ताला।

जीव बड़े अभिमान के साथ कहता है—यह मेरा धन है। किसकी हिम्मत है जो इसकी ओर आंख उठा कर देख सके? देखने वाले की आंखें फोड़ दूंगा? कौन इसे हाथ लगा सकता है? जो हाथ लगाना चाहेगा। उसका हाथ कलम कर दूंगा? और यह घर मेरा है। मैं इसका स्वामी हूं। किसी को इसकी परछाई में खड़ा होने दूं या न होने दूं, मेरी मर्जी! कोई मेरे मकान के सामने खड़ा होगा तो उसकी टांगें तोड़ दूंगा। मैं इसका रखवाला हूं! ऐसा कहने वाला दिन अस्त होने के बाद उस घर में सो जाता है और सोते-सोते परलोक को प्रयाण कर जाता है। राम नाम सत्य हो जाता है। वह तिजोरियों के ताले भी बन्द नहीं कर सका! गुलाब बाई उसे याद कर-करके रोती है!

भाइयो! क्या इस कथन में अतिशयोक्ति है? क्या आये

दिन सैकड़ों घटनाएँ इसी प्रकार की होती नहीं देखी जातीं ? फिर भी लोग अपने तन, धन, भवन आदि का अभिमान करते हैं !

यह घर मेरा है, मैं इसका रखवाला हूँ, इस प्रकार का अभिमान करने वाला पल भर में ही न जाने किस लोक में चला जाता है और यहाँ मकान सूना और खुला पड़ा रहता है। फिर भले ही कोई उसमें टट्टी जाय या पेशाब करे। अरे मकान के मालिक ! अब जरा आ न ? कहां गया ? अपने घर का अहंकार करता था। बड़ा मिजाज करता था। अब अपने घर की रखवाली क्यों नहीं करता ?

दया दान सत् शील न पाला, प्रभु से प्रेम न लाया।
पापी बन कर पाप कमाया, खाली हाथ सिधाया ॥

जिन्दगी भर न दया की, न दान किया, न शील पाला और न भगवान् का भजन ही किया। किया तो बस, पाप ही पाप का उपार्जन किया। बीड़ी, सिगरेट, और चिलम के धुएं उड़ाये। रंडीबाजी में पैसा लगाया। इस प्रकार धर्म के लिहाज से खाली हाथ गया ! बीस लाख की सम्पत्ति मौजूद थी। किसी ने प्रेरणा की कि दो-चार हजार परोपकार में लगाओ तो ललाट पर सिकुड़न आ गई। आँखें लाल हो गई।

न हाथ से कुछ किया और न कुछ करने जोग।
तुलसी इस संसार में, आय हंसाया लोग ॥

\+ + +

दुनिया में आकर यह सीखा, बस यह तेरा यह मेरा है।
जाने के पहले देखा तो, बस चारों ओर अंधेरा है ॥

भाइयों ! यह तेरा है और यह मेरा है, इस प्रकार की भावना मोह के प्रभाव से जन्म के साथ ही उत्पन्न हो जाती है। इस ज्ञान के लिए किसी शिक्षक या उपदेशक की आवश्यकता नहीं होती। छोटे-छोटे अबोध कहलाने वाले बालकों को भी यह बोध प्राप्त रहता है। मगर मरते समय देखा तो बस, चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार व्याप्त रहता है।

आप ही कहता आप ही सुनता आप बनाता बातें।
चौथमल ने भजन बनाया बदनावर से जाते ॥

भाइयों ! यह जीव आप ही कहता है, आप ही सुनता है और आप ही बातें बनाता है। अधर्म की ओर स्वतः इसकी प्रवृत्ति होती है। अनादिकालीन मोह-ममता के कुसंस्कारों के कारण पाप की ओर इसका झुकाव स्वतः ही हो जाता है।

बदनावर से जाते समय यह भजन बनाया गया था। इस भजन का मुख्य आशय यही है कि दुनियाँ का यह खेल झूठा है। मनुष्य का ममत्व और अहंकार सब मिथ्या है। संसार का कोई भी पौद्गलिक पदार्थ स्थायी नहीं है। यहां सभी कुछ विनश्वर है। जब जीवन ही स्थिर नहीं है तो जीवन के साथ जुड़े हुए अन्य पदार्थ स्थायी किस प्रकार हो सकते हैं? श्वास पर जिंदगी टिकी है, हृदय की धड़कन पर प्राण निर्भर हैं। किसी भी समय श्वास

बंद हो सकता है और किसी भी क्षण हृदय की धड़कन रुक सकती है। वहीं इस जीवन की समाप्ति हो जाती है। जीवन समाप्त हुआ नहीं कि समस्त वैभव, चाहे वह कितना ही विपुल क्यों न हो, पराया हो जाता है। मृत आत्मा के साथ कानी कोड़ी भी नहीं जाती। अतएव विवेकवान् पुरुष को इस सच्चाई पर विचार करना चाहिए। यह सच्चाई ऐसी नहीं है कि जिसमें कल्पना या श्रद्धा की आवश्यकता हो। प्रतिदिन ऐसी बातें प्रत्यक्ष देखी जाती है। नित्य इसका अनुभव होता है। अतएव पुण्य के उदय से जो भी सामग्री प्राप्त हुई हो, उसका सदुपयोग करना ज्ञानवान् पुरुषों का कर्त्तव्य है। धन हो या न हो, धर्म का उपार्जन करने में कोई बाधा नहीं पड़ सकती। तन से सेवा और परोपकार किया जा सकता है, वचन से भी परोपकार किया जा सकता है, परमात्मा के गुणों का गान किया जा सकता है और मन से शुभ भावनाएँ की जा सकती हैं, प्रभु के गुणों का चिन्तन किया जा सकता है और शास्त्रों का मनन किया जा सकता है। यही जीव की असली पूंजी होगी। इसी पूंजी से परलोक में आनन्द प्राप्त होगा।

बुद्धिमान् पुरुष को अपने जीवन की अनित्यता समझनी चाहिए। सोचना चाहिए-हे जीव! जब तू स्वयं ही एक जगह नहीं रह सकता तो फिर किस पर मुखत्यारी करता है? और किसको तू अपना मान रहा है? वास्तव में जो तेरा है उसे तू भूला हुआ है और जो तेरा नहीं है, उसी को तू अपना मान रहा है। तू अपने सशक्त शरीर का घमण्ड करता है, परन्तु शरीर से बढ़ कर धोखे बाज और कौन है? तू समझता है कि हम ५०० डंड पेल सकते हैं, किन्तु फूट के दस्त लग जाएँ या अचानक

लकवा मार जाय तो उस शरीर की क्या हालत होती है ? फिर यह भी तो विचार करो कि यह मिजाज किस बल पर है ? मल पर। रेल चले कल से, बदमाश काम ले छल से और शरीर काम करे मल से। जब तक मल शरीर के भीतर है, शरीर में शक्ति है। सारा मल निकल जाय तो हाथ-पैर भी नहीं हिल सकते, आंख भी नहीं खुल सकती ! इस प्रकार जिसकी जिंदगी मल पर निर्भर है, उसे अभिमान करना क्या शोभा देता है ?

हे जीव ! तूने संतों का समागम किया, वीतराग देव की वाणी का श्रवण किया है, धर्म के तत्त्व पर विचार किया है तो 'यह तेरा यह मेरा' का भाव त्याग दे। तू अपनी असली सम्पत्ति को पहचान। आत्मिक वैभव की खोज कर। वही वैभव वास्तव में तेरा है। वही तेरे साथ जायगा। वही तेरे काम आएगा। उसी के द्वारा तेरा निस्तार होगा। उसी की प्राप्ति और रक्षा के लिए प्रयत्नशील हो। तू समझता है कि यह पगड़ी तेरी है ? नहीं, उसे तो भङ्गी ले जायगा ! क्या स्त्री की चूनरी उसकी है ? नहीं, उसे भङ्गिन ओढ़ कर बाजार में निकलेगी ! भाई, इन पर-पदार्थों में स्वत्वबुद्धि तज। यह दुर्विकल्प आत्मा के वैरी हैं, आत्महित में बाधक हैं, परलोक में दुर्गति के कारण हैं। अतएव हे भव्य ! तू अपने विवेक में रमण कर। अपने विवेक में रमण करेगा तो तुझे प्रत्यक्ष शान्ति का अनुभव होने लगेगा। तुझसे अधिक न हो सके तो दान, शील, तप और भावना की ही आराधना कर। पेट के लिए खूब किया है तो ठेठ के लिए भी कुछ कर। कहा भी है:—

ठेठ का कौल तो भूल गया अरु पेट के काज भटकता है।
हराम का काम तो बहुत किया पर साहब का नाम अटकता है॥
कई कूड़ कपट झपट करे लालच पर लोभ लटकता है।
शाहीदीन कहे अकड़े मत प्यारे पकड़ के काल पटकता है॥

यह अविवेकी जीव ठेठ का काज भूल गया है और हराम का काम दिल लगा कर रात-दिन किया करता है। सिनेमा में रुपये खर्च कर देता है पर गरीब को एक पैसा देते हाथ सिकोड़ लेता है ! गप्पें मारने में घण्टों व्यतीत कर देता है परन्तु एक सामायिक करने का समय नहीं निकाल पाता ! मगर याद रखना, थोड़े ही दिनों में मुँह फट जायगा। हाथ और पैर अकड़ जाएँगे। इसलिए समय रहते सावधान हो जा। इस लदाऊ डेरे को स्थायी निवास समझने की भ्रमणा हटा दे। याद रख कि तुझे आगे जाना है। साथ में कुछ भाता ले जायगा तो सुख पायगा, नहीं तो दुःख ही दुःख भुगतना पड़ेगा। उस समय घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा। शास्त्र में कहा है—

अद्धाणं तु महंतं जो, अपाहेओ पवज्जइ।
गच्छन्तो सो दुही होई छुहातण्हाए पिडिओ॥
एवं धम्मं अकाऊणं, जो गच्छइ परं भवं।
गच्छन्तो सो दुही होइ, वाहीरोगेहिं पीडिओ॥
अद्धाणं तु महंतं जो, सपाहेओ पवज्जइ।
गच्छन्तो सो सुही होई, छुहातण्हाविवज्जिओ॥

एवं धम्मं पि काऊणं, जो गच्छइ परं भवं ।
गच्छन्तो सो सुही होइ, अप्पकम्मे अवेयणे ।।
—श्री उत्तराध्ययन, १९, १८-२१

अर्थात्—जो पुरुष लम्बे रास्ते में भाता लिए बिना चल देता है, वह जाते-जाते भूख-प्यास से पीड़ित होकर बहुत दुखी होता है। इसी प्रकार जो जीव धर्म किये बिना ही परलोक को प्रयाण करता है, वह व्याधियों और रोगों से पीड़ित होकर बहुत दुखी होता है।

इसके विपरीत, जो पुरुष लम्बे मार्ग में भाता साथ लेकर चलता है, उसे भूख-प्यास का कष्ट नहीं भोगना पड़ता और वह मौज से अपने मार्ग को तय करता है। इसी प्रकार जो जीव धर्म का आचरण करके परलोक-गमन करता है, वह सुखी होता है। वह कर्महीन और सब प्रकार की वेदनाओं से रहित होता है।

भाइयों ! सर्वज्ञ भगवान् ने जो उपदेश दिया है और शास्त्रों में जिसका संग्रह किया गया है, वही बात मैं अपने शब्दों में आपको समझाता हूँ। आप लोग तीर्थंकर भगवान् की वाणी के महत्त्व को समझें, उस पर विचार करें और अपने जीवन को उसी रूप में ढालें तो आपका कल्याण होगा। आनन्द ही आनन्द होगा।

भविष्यदत्त चरित—

कमलश्री, धनमित्र आदि सभी सुखपूर्वक रहने लगे। पहले

कहा जा चुका है कि उस नगर के बाहर एक तपस्वी रहता था। उसका नाम 'कोसी' या कौशिक था। वह कायक्लेश सहन करता किन्तु धूनी जला कर, सचित्त पानी का सेवन करके, कन्दमूल आदि का भक्षण करके जीव हिंसा भी करता था।

एक बार उस नगर में एक मुनिराज पधारे। धर्म-प्रेमी नर-नारी उन्हें वन्दना करने तथा उनका धर्मोपदेश सुनने के लिए गये। मुनिराज ने अपनी गम्भीर वाणी से, प्रभावशाली शब्दों में धर्मोपदेश दिया। मुनिराज ने संसार की असारता का चित्र अंकित किया और बतलाया कि यह जीव धर्म का आचरण न करके किस प्रकार संसार भ्रमण करता है और दुःखों का अनुभव करता है। कर्मों के अधीन होकर संसारी जीव नाना योनियों में भ्रमण करता है। कभी नरक योनि प्राप्त करता है तो क्षण भर भी वहां शान्ति या विश्रान्ति नहीं पाता है। नारकी जीव परस्पर एक दूसरे को दुस्सह यातनाएँ पहुंचाते हैं। तिस पर परमाधामी देवता और भी गजब ढाते हैं। नारक जीवों को क्षेत्र जन्य अपार वेदना भी भुगतनी पड़ती है। नरक गति की यातना इतनी भयंकर होती है कि सुनने मात्र से दिल दहल जाता है। नरक से निकल कर जीव तिर्यंच गति में उत्पन्न होता है तो भी क्या कष्टों का अन्त आ जाता है? मूक भाव से वध-बन्धन आदि की अनेक पीड़ाएँ उनका पिण्ड नहीं छोड़ती। मनुष्य गति कदाचित् मिल जाय तो भी नीचकुल, दरिद्रता, विकलांगता, शारीरिक एवं मानसिक व्याधियाँ, इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग आदि के अनेकविध दुःख दावानल की तरह जलाते रहते हैं। देवगति पाकर भी अनेक देवों को दास का कार्य करना पड़ता है। बड़े देवताओं की ऋद्धि देख

कर आह का दुःख भोगना पड़ता है । मृत्यु की विभीषिका सामने खड़ी होती है । इस प्रकार यह चतुर्गति रूप संसार कष्टों का घर है । अनादि काल से जीव इन दुःखों को सहते-सहते अभ्यस्त हो गया है । मगर विवेकशील मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह इन दुःखों से छुटकारा पाने का प्रयत्न करे ।

मुनिराज का इस प्रकार उपदेश सुनकर नगर--निवासी नर और नारी लौट कर जाने लगे तो मार्ग में कोसी नामक तापस उन्हें मिला । उसका हिंसा जनक क्रिया काण्ड देख कर लोगों ने उसका तिरस्कार किया । धीरे-धीरे समस्त नगर निवासियों ने उसका अपमान करना शुरू कर दिया । सिर्फ कृतसेना और धनमित्र ही तापस की सेवा करते रहे । वे क्षण भर के लिए भी तापस की सेवा से विमुख नहीं होते थे ।

धनमित्र का एक मित्र था । उसका नाम था नन्द । दोनों में परस्पर अच्छी प्रीति थी, मगर नन्द धर्मात्मा था और इस कारण वह धनमित्र के घर प्रायः नहीं जाता था । एक दिन धनमित्र ने नन्द से कहा --मित्र ! तुम हमारे यहां क्यों नहीं आते ? हमारे यहां अनेक मित्र इकट्ठे होते हैं और मजा-मौज करते हैं । तुम्हें भी आना चाहिए ।

नन्द बोला—भाई, तुम्हारे हमारे बीच में एक दीवाल खड़ी है । वही दीवाल मुझे तुम्हारे यहां आने से रोक देती है ।

धनमित्र—कौन सी दीवाल ?

कहा जा चुका है कि उस नगर के बाहर एक तपस्वी रहता था। उसका नाम 'कोसी' या कौशिक था। वह कायक्लेश सहन करता किन्तु धूनी जला कर, सचित्त पानी का सेवन करके, कन्दमूल आदि का भक्षण करके जीव हिंसा भी करता था।

एक बार उस नगर में एक मुनिराज पधारे। धर्म-प्रेमी नर-नारी उन्हें वन्दना करने तथा उनका धर्मोपदेश सुनने के लिए गये। मुनिराज ने अपनी गम्भीर वाणी से, प्रभावशाली शब्दों में धर्मोपदेश दिया। मुनिराज ने संसार की असारता का चित्र अंकित किया और बतलाया कि यह जीव धर्म का आचरण न करके किस प्रकार संसार भ्रमण करता है और दुःखों का अनुभव करता है। कर्मों के अधीन होकर संसारी जीव नाना योनियों में भ्रमण करता है। कभी नरक योनि प्राप्त करता है तो क्षण भर भी वहां शान्ति या विश्रान्ति नहीं पाता है। नारकी जीव परस्पर एक दूसरे को दुस्सह यातनाएँ पहुंचाते हैं। तिस पर परमाधामी देवता और भी गजब ढाते हैं। नारक जीवों को क्षेत्र जन्य अपार वेदना भी भुगतनी पड़ती है। नरक गति की यातना इतनी भयंकर होती है कि सुनने मात्र से दिल दहल जाता है। नरक से निकल कर जीव तिर्यंच गति में उत्पन्न होता है तो भी क्या कष्टों का अन्त आ जाता है? मूक भाव से वध-बन्धन आदि की अनेक पीड़ाएँ उनका पिण्ड नहीं छोड़ती। मनुष्य गति कदाचित् मिल जाय तो भी नीचकुल, दरिद्रता, विकलांगता, शारीरिक एवं मानसिक व्याधियाँ, इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग आदि के अनेकविध दुःख दावानल की तरह जलाते रहते हैं। देवगति पाकर भी अनेक देवों को दास का कार्य करना पड़ता है। बड़े देवताओं की ऋद्धि देख

कर डाह का दुःख भोगना पड़ता है । मृत्यु की विभीषिका सामने खड़ी होती है । इस प्रकार यह चतुर्गति रूप संसार कष्टों का घर है । अनादि काल से जीव इन दुःखों को सहते-सहते अभ्यस्त हो गया है । मगर विवेकशील मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह इन दुःखों से छुटकारा पाने का प्रयत्न करे ।

मुनिराज का इस प्रकार उपदेश सुनकर नगर--निवासी नर और नारी लौट कर जाने लगे तो मार्ग में कोसी नामक तापस उन्हें मिला । उसका हिंसा जनक क्रिया काण्ड देख कर लोगों ने उसका तिरस्कार किया । धीरे-धीरे समस्त नगर निवासियों ने उसका अपमान करना शुरू कर दिया । सिर्फ कृतसेना और धनमित्र ही तापस की सेवा करते रहे । वे क्षण भर के लिए भी तापस की सेवा से विमुख नहीं होते थे ।

धनमित्र का एक मित्र था । उसका नाम था नन्द । दोनों में परस्पर अच्छी प्रीति थी, मगर नन्द धर्मात्मा था और इस कारण वह धनमित्र के घर प्रायः नहीं जाता था । एक दिन धनमित्र ने नन्द से कहा—मित्र ! तुम हमारे यहां क्यों नहीं आते ? हमारे यहां अनेक मित्र इकट्ठे होते हैं और मजा-मौज करते हैं । तुम्हें भी आना चाहिए ।

नन्द बोला—भाई, तुम्हारे हमारे बीच में एक दीवाल आड़ी खड़ी है । वही दीवाल मुझे तुम्हारे यहां आने से रोक देती है ।

धनमित्र—कौन सी दीवाल ?

नन्द - रात्रि भोजन की। मैं रात्रि में भोजन नहीं करत और तुम रात्रि में भोजन करते हो। मैं तुम्हारे यहाँ आऊँ तो तु मेरी मनुहार करोगे। मैं अपनी प्रतिज्ञा को भंग नहीं करूँगा औ तुम्हें बुरा लगेगा। इसी कारण मैं आने से बचता रहता हूँ।

धनमित्र--तो भाई, रात्रि भोजन में पाप क्या है? जं चीज दिन में खाई जा सकती है, वही रात्रि में खाई जा सकती है। अगर दिन में खाना पाप नहीं है तो रात्रि में खाना पाप क्यों है।

नन्द--भाई, मेरी बात सुनो। रात्रि भोजन पापों और दोषों का घर है। रात्रि में अंधेरा करके खाओ तो जीव-जन्तु भी खाये जा सकते हैं और यदि प्रकाश करके खाओ तब भी वही बात है। प्रकाश से आकर्षित होकर बहुत से सूक्ष्म और स्थूल जन्तु उड़-उड़ कर आते हैं और भोजन में गिर जाते हैं। उनमें बहुतेरे तो इतने सूक्ष्म होते हैं कि आंखों से खास तौर पर रात्रि में दिखलाई ही नहीं पड़ते। यह धार्मिक दृष्टि से बड़ी हानि है। स्वास्थ्य के लिहाज से भी रात्रि भोजन हानिकारक होता है। भोजन करके सो जाने से अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। रात्रि भोजन अप्राकृतिक है। देखो, तोता रात्रि में कुछ भी नहीं खाता है। कबूतर और यहाँ तक कि पक्षियों में निकृष्ट समझा जाने वाला कौवा भी रात्रि में चुगने नहीं जाता। तो क्या मनुष्य इनसे भी अधम है जो रात्रि में भोजन करे? कहां तक बतलाऊँ, रात्रि का भोजन अन्धा भोजन है। अनेक दोषों का जनक है। सभी धर्म-शास्त्र एक स्वर से रात्रि भोजन की निन्दा करते हैं।

नन्द का यह कथन सुन कर धनमित्र कांप उठा। उसने उसी दिन से रात्रि भोजन का परित्याग कर दिया। उसने कृतसेना और गुणमाला आदि परिवार की महिलाओं को भी समझाया और उन्होंने भी रात्रि भोजन त्याग दिया।

धनमित्र की रुचि अब वास्तविक धर्म की ओर आकृष्ट हुई। नन्द की संगति से वह धर्म का आचरण भी करने लगा। उसने श्रावक के बारह व्रत धारण कर लिये, प्रति दिन णमोकार मंत्र का जाप करने लगा और हर्षित होकर सुपात्र दान देने लगा। फिर भी तापस की सेवा वह बराबर करता रहा। तापस को साता उपजाने में उसने कसर नहीं रक्खी।

उधर विजोयर मन्त्री तथा नगर के नर-नारी तापस की निन्दा करते ही रहते थे। अपनी निन्दा सुन कर तापस को बड़ा क्रोध आता था। एक दिन तापस के चित्त में यह भावना उत्पन्न हुई कि यदि मैं अपनी तपस्या के फलस्वरूप देवता बन जाऊँगा तो मन्त्री से करारा बदला लूँगा और इन नगर निवासियों को भी निन्दा करने का मजा चखाऊँगा। कहा है:—

'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी'

इस भावना के अनुसार और काय क्लेश सहन करने के कारण कोसी तापस मर कर व्यन्तर देव के रूप में उत्पन्न हुआ। उसका नाम अशनि वेग हुआ और वह तिलकपुर पाटन में रहने लगा।

इधर राजा की आज्ञा पाकर, विजोयर मंत्री ने सेना ले जा

कर खंधार देश पर आक्रमण किया। दोनों सेनाओं में भयानक संग्राम हुआ। उस संग्राम में तीर लगने के कारण मंत्री विजोयर का प्राणान्त हो गया।

मन्त्री के परलोक गमन का समाचार पाकर राज्य में शोक छा गया। धनमित्र के हृदय को तो भारी आघात लगा। उसके नेत्रों में नीर भर आया। वह अपने ऊपर किये हुए उपकार का स्मरण करके कहने लगा—हाय मंत्रीजी ! आपने मुझ पर अपार उपकार किया था ! आपके ही अनुग्रह से मुझे राजा से सन्मान प्राप्त हुआ था ! अफसोस, आप असमय में ही हम से बिछुड़ गए ! धनमित्र को इस प्रकार विलाप करते देख बहुत-से लोग उसे समझाने और सान्त्वना देने आये। किसी प्रकार धीरज धर कर धनमित्र कृतसेना के पास पहुँचा। कृतसेना अपने पिता के वियोग में अत्यन्त मर्माहत हो रही थी ! वह विसूर-विसूर कर रुदन कर रही थी। शोक के समय स्नेहीजनों को देखते ही शोक का वेग अधिक प्रबल हो उठता है। तदनुसार धनमित्र को आते देखा तो कृतसेना और अधिक दुखित होकर रोने लगी। उसे अपने पिता की गुणगरिमा व्यथित करने लगी। वह कहने लगी—हाय ! पिताजी के राज्य में मैं अपने पति के दुःख को भूल गई थी। पिताजी कभी मेरी बात नहीं टालते थे। मैंने धनमित्र को नगरसेठ बनाने के लिए कहा तो उन्होंने यह भी करवा दिया। आज पिताजी की गैर मौजूदगी में मैं अनाथ हो गई ! निराधार हो गई ! अब संसार में मेरा कौन रह गया ? कौन मुझे प्यार से 'बिटिया' कह कर पुकारेगा ? मैं किसकी शरण में जाऊँगी ?

धनमित्र ने कृतसेना को खूब समझाया। उसने कहा—

वहिन, चिन्ता न करो, शोक का परित्याग करो। जीवन स्थिर किसी का नहीं है। सभी को आगे-पीछे जाना है। कोई अमर होकर नहीं आया है। सभी की, एक न एक दिन मृत्यु होती है। मृत्यु के साधन यहां सदैव तैयार रहते हैं। अतएव किसी के मर जाने में अचरज ही क्या है? अचरज हो सकता है तो जीने में ही हो सकता है। अतएव धैय धारण करो। जन्म के पश्चात् मृत्यु होना तो निश्चित ही है।

इस प्रकार अपने धर्मभ्राता धनमित्र के वहुत समझाने-वुझाने से कृतसेना को कुछ सान्त्वना मिली। धीरे--धीरे उसका शोक कम हो गया। अव वह जिनेन्द्र भगवान् की सेवा एवं ध्यान में लीन होकर रहने लगी।

विजोयर मंत्री का जीव मर कर तिलकपुर में यशोधर राजा के रूप में उत्पन्न हुआ और सुख पूर्वक वहाँ राज्य करने लगा। संयोग एवं होनहार की वात है कि कोसी तापस और उसकी निन्दा करने वाले विजोयर मंत्री दोनों ही मृत्यु के पश्चात् तिलकपुर में जन्मे।

भाइयों! पूर्व जन्म का वैर और प्रेम किस प्रकार आगामी जन्म पर असर डालते हैं और उनका फल जीवों को किस तरह सुख एवं दुःख का कारण वनता है, यह वात इस कथा से स्पष्ट होने जा रही है। विमलवुद्धि मुनिराज भविष्यदत्त राजा को उसके पूर्वभव का वृत्तान्त सुना रहे हैं। आगे क्या होता है, यह फिर देखा जायगा।

११,१२-११-४८

धर्मकथा

स्तुति :—

स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्,
नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता ।
सर्वा दिशो दधति भानि सहस्त्ररश्मिं,
प्राच्येव दिग् जनयति स्फुरदंशुजालम् ।।

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं कि–हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त शक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन् ! आपकी कहाँ तक स्तुति की जाय ? हे प्रभो ! आपके कहाँ तक गुण गाये जाएँ ?

भगवान् ऋषभदेवजी की मातेश्वरी का नाम मरुदेवी था । आचार्य महाराज कहते हैं कि जगत् में हजारों-लाखों स्त्रियाँ हुई

हैं और आज भी हैं। वे अपने उदर से पुत्रों को जन्म भी देती हैं, किन्तु माता मरुदेवी भगवती ने जैसा पुत्र रत्न उत्पन्न किया, वैसा किसी अन्य माता ने उत्पन्न नहीं किया। रात्रि के समय देखा जाय तो असंख्य तारे आकाश में दिखलाई पड़ते हैं। विस्तृत आकाश तारासमूह से व्याप्त प्रतीत होता है। इतने बहुत तारे होने पर भी रात की रात ही बनी रहती है। मगर प्रातःकाल जब एक सूर्य प्रकट होता है तो रात्रि का अन्त हो जाता है। अंधकार विलीन हो जाता है और सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश फैल जाता है। इस प्रकार अन्धकार को विनष्ट करके प्रकाश फैलाने वाले सूर्य को उत्पन्न करने वाली पूर्व दिशा ही है। कोई भी अन्य दिशा सूर्य को जन्म नहीं दे सकती। इसी प्रकार मरुदेवी माता के अतिरिक्त किसी अन्य माता में ऐसी शक्ति नहीं है, जो भगवन्! तुम्हारे समान पुत्र को उत्पन्न कर सके। हे माता मरुदेवी! इस जगत् पर तुम्हारा अपार उपकार है कि तुमने तीनों लोकों में उद्योत करने वाले पुत्र ऋषभदेवजी को जन्म दिया है। ऐसे भगवान् ऋषभदेवजी को हमारा बार-बार नमस्कार हो।

यों तो सभी पुत्रवती माताएँ भाग्यशालिनी कहलाती हैं और समझी जाती हैं, मगर जिनके पुत्र जन्म लेकर परोपकार में, जगत् के कल्याण में, अपना जीवन लगा देते हैं, वे माताएँ सचमुच भाग्यशालिनी हैं। जिनके सपूत स्वयं धर्म का आचरण करके दूसरों को भी धर्म के मार्ग पर अग्रसर करते हैं, उनकी कूँख धन्य है। जो पुत्र माता का दूध पीकर स्व-पर कल्याण करता है और विश्व के समक्ष कोई महान् आदर्श उपस्थित कर जाता है, उस माता का दूध सफल हो जाता है। नीतिकार कहते हैं:—

पुण्यतीर्थे कृतं येन, तपः क्वाप्यतिदुष्करम् ।
तस्य पुत्रो भवेद्वश्यः, समृद्धो धार्मिकः सुधीः ।।

अर्थात् जिसने किसी पवित्र भूमि में अत्यन्त कठोर तपस्या की होती है, उसका पुत्र, माता-पिता की अधीनता में रहने वाला ऋद्धिमान, धर्मात्मा और सद्बुद्धिशाली होता है ।

वास्तव में पुण्य के प्रताप से ही इष्ट-संयोग की प्राप्ति होती है । अतः यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि गुणवान पुत्र की प्राप्ति होना सौभाग्य की ही बात है । इस आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि जिसकी सन्तान जितनी ज्यादा गुणवान् है, वह उतना ही अधिक भाग्यवान् है । इस कसौटी पर अगर माता मरुदेवी के पुण्य को कसने चलें तो उनकी कोई सीमा नहीं रहती । सर्वोत्कृष्ट गुणों से सम्पन्न सन्तान जिन्हें प्राप्त हुई उनका पुण्य सर्वोत्कृष्ट क्यों न कहलाएगा ? इसीलिए आचार्यश्री ने फरमाया है कि माता मरुदेवी ने जैसे पुत्र को जन्म दिया, वैसा किसी अन्य माता ने नहीं ।

कहा जा सकता है कि भगवान् ऋषभदेव के अतिरिक्त अन्य तीर्थंकरों की माताओं ने क्या भगवान् ऋषभदेव सरीखे पुत्रों को जन्म नहीं दिया है ? अगर उन्होंने भी जन्म दिया है तो फिर क्यों कहा गया कि अन्य माताओं ने वैसे पुत्र को जन्म नहीं दिया ?

इस प्रश्न का उत्तर मैं कई बार दे चुका हूँ । सभी तीर्थंकर समान गुणों से विभूषित होते हैं, अतएव एक किसी भी तीर्थंकर

की जो स्तुति की जाती है, वह सभी तीर्थंकरों को समान रूप से लागू होती है। नाम भले ही भिन्न हो, मगर तीर्थंकरों के गुणों में कोई भेद नहीं होता। अतएव यहां भगवान ऋषभदेवजी के सम्बन्ध में जो कहा गया है, वह सभी तीर्थंकरों के सम्बन्ध में समझना चाहिए और माता मरुदेवी के विषय में जो कुछ कहा गया है, वह सभी तीर्थंकरों की माताओं के विषय में समझना चाहिए। इस प्रकार माता मरुदेवी ने जैसे असाधारण पुत्र को उत्पन्न किया, उसी प्रकार माता त्रिशलादेवी ने भी असाधारण पुत्र को जन्म दिया है। अतएव यहाँ यही तात्पर्य लेना चाहिए कि तीर्थंकर की माताओं ने जैसे पुत्र उत्पन्न किये, वैसे अन्य माताओं ने नहीं।

भला तीर्थंकर भगवान् की समता कौन कर सकता है? उनकी आत्मा जन्म-जन्मान्तरों के पवित्र संस्कारों को साथ लेकर अवतरित होती है और अपने वर्त्तमान जीवन में अन्तिम श्रेणी की सिद्धि प्राप्त करती है। तीर्थंकर भगवान् स्वयं तिरते हैं और अन्य भव्य जीवों को भी तारते हैं। इसीलिए तो उन्हें 'तिण्णाणं, तारयाणं, मुत्ताणं-मोयगाणं,' कहा गया है। भगवान् ने अपनी आत्मा को सर्वथा निर्मल बनाया और धर्मोपदेश देकर जगत् का भी कल्याण किया। भगवान् जहां पधारते थे, वहीं धर्म का उपदेश करते थे।

ठाणांगसूत्र में चार प्रकार की धर्म कथा बतलाई गई है। यथा:—

अक्खेवणी, विक्खेवणी, संवेगणी निव्वेगणी।

इनमें से पहली आक्षेपणी कथा है। श्रोताओं के मोह को दूर करके उन्हें तत्त्व की प्रेरित करने वाली कथा आक्षेपणी कथा कहलाती है। यह आक्षेपणी कथा भी चार प्रकार की है--(१) आचार आक्षेपणी, (२) व्यवहार आक्षेपणी, (३) प्रज्ञप्ति आक्षेपणी और (४) दृष्टिवाद आक्षेपणी। अपने आचार द्वारा अथवा आचारांग सूत्र के व्याख्यान द्वारा श्रोताओं को तत्त्व की ओर प्रेरित करना आचार-आक्षेपणी कथा कहलाती है। इसी तरह अपने व्यवहार अर्थात् प्रायश्चित्त द्वारा अथवा व्यवहारसूत्र के व्याख्यान द्वारा तत्त्व की ओर प्रेरित करना व्यवहार-आक्षेपणी कथा कहलाती है। जिसे तत्त्व में संशय या अश्रद्धा हो उस श्रोता को साधु--भाषा में समझा कर अथवा प्रज्ञप्तिसूत्र का व्याख्याण करके तत्त्व की ओर आकृष्ट करना प्रज्ञप्ति--आक्षेपणी कथा कहलाती है। दृष्टिवाद सूत्र की व्याख्या करके अथवा तत्त्वों का सूक्ष्म रूप से निरूपण करके श्रोताओं को धर्म-तत्त्व की ओर प्रेरित करना दृष्टिवाद-आक्षेपणी कहलाती है।

अपने शिष्यों और श्रोताओं को कुमार्ग से हटाकर सन्मार्ग में लगाने वाली कथा (उपदेश) विक्षेपणी कथा है। इसके भी चार भेद हैं:—

(१) स्वसिद्धान्तों की युक्ति युक्तता, सत्यता सिद्ध करके परकीय सिद्धान्त के दोषों को प्रकट करने वाली कथा।

(२) परकीय सिद्धान्त का कथन करते हुए अपने सिद्धान्त की स्थापना करने वाली कथा।

(३) परकीय सिद्धान्त में जो--जो विषय जिनेन्द्र भगवान् के कथन के समान हैं उनका निरूपण करके, विपरीत कथन के दोष दिखलाना।

(४) मिथ्या वादों के दोष दिखलाकर फिर जिनागम से मिलती हुई बातों का निरूपण करना।

तीसरी संवेगनी कथा है। कर्मों का फल जीव को किस प्रकार भोगना पड़ता है, और यह संसार कैसा असार एवं दुःखों से परिपूर्ण है, इत्यादि विवेचना करके श्रोताओं के चित्त में वैराग्य उत्पन्न करने वाली कथा संवेगनी कथा कहलाती है। यह कथा भी चार प्रकार की कही गई है। इस भव की असारता एवं दुःख-मयता का कथन करना, परलोक की असारता का विवेचन करना, अपने शरीर की क्षणभंगुरता, अपावनता आदि का निरूपण करना और पर शरीर अर्थात् मुर्दे के शरीर का स्वरूप चित्रित करके वैराग्य भाव उत्पन्न करना। इस कथा से श्रोताओं को संसार और शरीर का वास्तविक स्वरूप ज्ञात हो जाता है और उनका मोह या तो हट जाता है या शिथिल हो जाता है।

निर्वेद का अर्थ है उदासीनता। संसार के प्रति उदासीन भाव उत्पन्न करने वाली कथा निर्वेदनी कथा कहलाती है। इसके भी चार भेद किये गये हैं। जैसे:—

(१) इस लोक में अर्थात् वर्त्तमान जीवन में किये हुए अशुभ कर्म इसी लोक में अर्थात् इसी जीवन में किस प्रकार दुःख मय फल प्रदान करते हैं, यह कथन करना।

(२) इस भव में किये हुए अशुभ कर्मों का फल परभव में भोगना पड़ता है इस प्रकार की विवेचना करना।

(३) पूर्व भव में आचरण किये हुए पाप-कर्मों का फल जीव को इस भव में किस प्रकार भोगना पड़ता है, इत्यादि निरूपण करना।

(४) पूर्व भव में किया हुआ पापाचार आगामी भवों में दुःख रूप फल प्रदान करता है, यह बतलाना।

प्रत्येक धर्मोपदेशक को इन धर्म कथाओं का स्वरूप समझ कर ही उपदेश करना चाहिए, जिससे उपदेशक का भी कल्याण हो और श्रोताओं का भी कल्याण हो।

धर्मकथा करना भी एक प्रकार की तपस्या है। भगवान् ने बारह प्रकार का तप बतलाया है। उसमें ग्यारहवीं तपस्या स्वाध्याय है। स्वाध्याय के पाँच भेद हैं:—वाचना, पृच्छना, परिवर्त्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा।

गुरु महाराज से विनयपूर्वक शास्त्र पढ़ना वाचना स्वाध्याय है। शास्त्रों के पठन से अज्ञान का नाश होता है और ज्ञान के अलौकिक प्रकाश से आत्मा उद्भासित हो जाती है। हित-अहित का, पुण्य-पाप का, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का भान हो जाता है। यही कारण है कि वाचना-स्वाध्याय भी तपस्या में गिना गया है और वह भी आभ्यन्तर तपस्या में गिना गया है। जो जितना ज्यादा शास्त्र-स्वाध्याय करेगा, वह उतनी ही अधिक तपस्या का फल पाएगा। किसी को अधिक समय न मिल सके और एक पन्ना

भी प्रतिदिन शास्त्र का पढ़े तो उसे भी तपस्या के फल की प्राप्ति होगी । कई लोग कहते हैं कि तप करने की अभिलाषा तो बहुत रहती है, मगर भूखा नहीं रहा जाता । ऐसे लोगों से कहा जा सकता है- भाई, भूखे नहीं रह सकते तो न सही, तपस्या तो भगवान् ने अनेक प्रकार की बतलाई है । स्वाध्याय करने में तो भूखा रहने की कोई आवश्यकता नहीं है । दो-चार पृष्ठ शास्त्रों के पढ़ो—शाँत और एकाग्र चित्त से पढ़ो । उसके अर्थ पर विचार करो । कोई बात समझ में न आये तो विद्वानों से प्रश्न करके समझो । समझे हुए विषय पर बार-बार विचार करो । बहुत बार तुम बेकार बैठे रहते हो । बेकारी में मस्तिष्क में तरह-तरह के तूफान आते हैं, हानिकारक बातें सूझती हैं, दुर्विचार आते हैं । किसी को अपने पास बिठला कर प्रयोजन-हीन और कर्मबन्ध की कारणभूत बातें करने लगते हो । इन सब से क्या यह अच्छा न होगा कि तुम पढ़े या सुने हुए शास्त्र की बातों पर विचार किया करो ? जब कोई काम न हो उस समय भी अगर शास्त्र-चिन्तन कर लिया करो तो कितना लाभ होगा, इस बात की तुम कल्पना भी नह कर सकते ।

इसी प्रकार नमोकारमन्त्र का जाप करना, 'लोगस्स' और 'नमोत्थु णं' के पवित्र पाठों की माला फेरना भी तपस्या है । प्रतिक्रमण करना और उसके पाठों को श्रवण करना भी तपस्या है । इससे भी कर्मों की निर्जरा होती है । पापों का नाश होता है । जैसे साबुन से कपड़ों का मैल कट जाता है, उसी प्रकार तपस्या से आत्मा का मैल कटता है । इस प्रकार स्वाध्याय करना आत्मा

के मैल को दूर करके उसे निर्मल बनाना है। यह बिना कठिनाई का साधन है। इससे क्यों चूकते हो ?

कोई कहता है—शास्त्र समझ में तो आता नहीं। फिर उसका स्वाध्याय करके क्या करें ? कोरा पाठ बोल जाने से क्या लाभ है ? इस सम्बन्ध में मेरा कहना यह है कि सर्वप्रथम तो यही प्रयत्न करना चाहिए कि शास्त्र का आशय तुम्हारी समझ में आ सके। मनुष्य के लिए ऐसा करना कोई बड़ी बात नही है। बड़े-बड़े विद्वान् या पण्डित, जो शास्त्रों के ज्ञाता समझे जाते हैं, पहले शास्त्रों का एक भी अक्षर नहा समझते थे। प्रयास करके उन्होंने योग्यता प्राप्त की और शास्त्र समझने लगे। तुम भी प्रयास कर सकते हो और वैसी योग्यता प्राप्त कर सकते हो। शास्त्र के आशय को समझ कर अगर स्वाध्याय किया जायगा तो निस्सन्देह खूब आनन्द मिलेगा, स्वाध्याय रसमय बन जायगा, चित्त में तल्लीनता उत्पन्न हो जायगी और इससे कर्मों की अपेक्षाकृत अधिक निर्जरा होगी। लेकिन इसका आशय यह नहीं समझना चाहिए कि अर्थ को समझे बिना स्वाध्याय करने से कुछ लाभ नहीं होता। आपने कभी देखा होगा कि जब किसी मनुष्य को साँप काट खाता है तो वह मूर्छित हो जाता है। उस स्थिति में मन्त्र-पाठक विष दूर करने के लिए मन्त्र पढ़ता है। मूर्छित मनुष्य उस मन्त्र का अर्थ नहीं समझता, यहाँ तक कि मन्त्र पढ़ने वाला भी मन्त्र के शब्दों का सही आशय नहीं समझता है फिर भी मन्त्र का पाठ करने से विष उतर जाता है। इसी प्रकार शास्त्र का स्वाध्याय करते-करते पापों का विष नष्ट हो जाता है।

साँप का जहर उतारने के लिए चौबीस अक्षरों का मन्त्र

कह कर पूछना चाहिए। उनको गैर-मौजूदगी में विद्वान् गृहस्थ से पूछना चाहिए। परन्तु विनय के साथ प्रश्न करना ही उचित है। कोई कह सकता है कि अगर विनय करके न पूछा तो क्या हानि है? भाई, विनय के साथ पूछना शास्त्र का विनय करना है और अविनय से प्रश्न करना शास्त्र का अविनय है। ज्ञान का, देव, गुरु और धर्म का विनय करना चाहिए। अधिक क्या, स्वाध्याय करना आरम्भ करते समय भी तीन बार वन्दना करनी चाहिए। कई लोग यों ही पढ़ने बैठ जाते हैं, किन्तु विनय बड़ी चीज है। विनय से ज्ञान आता है। विनय से धर्म की वृद्धि होती है। जैन शासन में विनय की बड़ी महिमा बतलाई गई है। विनय के साथ सीखे हुए दो अक्षर भी हजार अक्षरों के बराबर काम देते हैं।

पहले सीखे ज्ञान को फेरना भी स्वाध्याय है। इसे परिवर्त्तना या आवृत्ति करना कहते हैं। बार-बार फेरने से ज्ञान स्थायी होता है, चिरकाल तक विस्मरण नहीं होता और नवीन नवीन सूझ उत्पन्न होती है। इस प्रकार परिवर्त्तना स्वाध्याय भी कल्याणकारी है। इससे भी अनन्तानन्त कर्म-वर्गणाएँ टूटती हैं।

कहा जा सकता है कि विचार करने से कर्म किस प्रकार टूट सकते हैं? इसका उत्तर यह है कि विचार करने से जैसे कर्मों का बन्ध होता है, उसी प्रकार कर्म टूटते भी हैं। कर्म बन्ध और कर्म-निर्जरा में विचार प्रधान कारण हैं। कोई पुरुष वेश्या के पास जाने का विचार करता है तो उसे कर्मों का बन्ध होता है या नहीं? तो जिस प्रकार बुरा विचार करने से अशुभ कर्मों का बन्ध होता है, उसी प्रकार शुद्ध विचार करने से कर्मों की निर्जरा भी होती है।

पढ़े हुए ज्ञान पर बार-बार विचार करना अनुप्रेक्षा नामक स्वाध्याय कहलाता है। इस स्वाध्याय से अपूर्व ज्ञान की प्राप्ति होती है। शास्त्र के सूक्ष्म से सूक्ष्म विषय का बोध होने लगता है। अनन्त जन्म-मरण के कारणभूत कर्मों का नाश हो जाता है। अनुप्रेक्षा करने से भावना निर्मल होती है और अन्तःकरण पवित्र होता है। जितनी देर तक तुम शास्त्र का चिन्तन करते रहोगे, उतनी देर तक तुम्हारे मन में एकाग्रता रहेगी और मलीन विचारों से तुम्हारा छुटकारा हो जायगा। अतएव अनुप्रेक्षा नामक स्वाध्याय भी अत्यन्त कल्याणकारी है।

पाँचवें नम्बर का स्वाध्याय धर्म कथा है। धर्म कथा को आज कल की प्रचलित भाषा में 'व्याख्यान' कहते हैं। धर्म-कथा करना भी निर्जरा का कारण है। पहले वस्तु के स्वरूप की स्थापना करना और जीव, अजीव, पुण्य एवं पाप है, लोक है, संवर है, निर्जरा है, बंध है और मोक्ष है, आदि समस्त वस्तुओं की स्थापना करके उन्हें भली भाँति समझाना व्याख्यान या धर्म-कथा का ध्येय होता है। धर्म-कथा के चार भेद पहले बतलाये जा चुके हैं। व्याख्यानकर्त्ता को उचित है कि श्रोताओं की योग्यता को देख कर जब जो धर्म-कथा करना योग्य हो, वही करे और उन्हें मुक्ति के पथ की ओर अग्रसर करे। साधारणतया धर्म-कथाओं का क्रम यह है कि पहले आक्षेपणी फिर विक्षेपणी, और तत्पश्चात् संवेगणी तथा निर्वेदनी कथा करनी चाहिए। संवेगनी कथा में, जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, संसार की अनित्यता दिखलाई जाती है। यह जगत् अनित्य है, अशाश्वत है, मिथ्या है, सपने की माया है। हे जीव ! जिस जगह तू विश्राम लेकर बैठा है वहाँ सदैव बैठा

ही नहीं रहेगा। किसी समय अचानक ही चल देना पड़ेगा। अरे भाई! देख, तेरे बाप--दादा आदि पूर्वज चले गये और तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव और बड़े--बड़े महारथी भी चले गये। तब क्या तू ही अकेला अमर रहेगा? देखते-देखते सारी रंगत ही बदल जाती है। संवेगनी कथा के द्वारा श्रोताओं के चित्त में संवेगभाव उत्पन्न किया है। संवेग के पश्चात् ही निर्वेद आता है। जैसे-भगवान् महावीर चौवीसवें तीर्थंकर के रूप में जन्मे। अरिहन्त अवस्था प्राप्त होने पर उनके १४ हजार साधु थे और ३६ हजार आर्याएँ थीं। साधुओं में इन्द्रभूति गौतम स्वामी मुख्य थे और साध्वियों में चन्दनबालाजी मुख्य थीं। जब भगवान् ग्राम, नगर आदि में विचरते थे तो सभी साधु उनके साथ नहीं रहते थे, किन्तु सब उनकी आज्ञा में विचरते थे। विहार करते हुए त्रिकाल-दर्शी भगवान् चम्पा नगरी में पधारते हैं:—

चम्पा नगरी आये विचरते चम्पा नगरी के उद्यान।

विहार प्रान्त में किसी समय राजगृह नगर बड़ा समृद्धि-शाली नगर था। कहते हैं उसके एक भाग में तो दस लाख करोड़-पतियों की दुकानें थीं। उस समय भारतवर्ष में धन की कमी नहीं थी। जैसे आजकल अमेरिका धनाढ्य देश गिना जाता है, इस देश में ऐसे-ऐसे साहूकार मौजूद हैं, जिनकी एक-एक मिनिट में छत्तीस-छत्तीस हजार रुपये की सिर्फ ब्याज की आमदनी है। इसी प्रकार उस समय भारतवर्ष भी धनवान् देश था। अतएव राजगृह नगर, जो मगध की राजधानी था, अगर अपरिमित सम्पत्ति से युक्त हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

उस समय राजगृह के राजा कोणिक थे। उधर विचरते हुए भगवान् महावीर स्वामी चम्पा नगरी के वाग में पधारे। पता लगते ही हजारों की संख्या में नगर के नर-नारीवृन्द भगवान् के दर्शनार्थ चल पड़े। उस समय वहां का राजा युद्ध में गया हुआ था, किन्तु अन्तःपुर में खवर पहुँचते ही राजा श्रेणिक की दसों रानियाँ रथ में बैठ कर रवाना हुई। काली, महाकाली, सुकाली, कृष्णा, सुखसेना, महाकृष्णा, प्रिय सेना आदि दसों रानियाँ प्रभु के दर्शन के लिए पहुँचीं। राजा श्रेणिक उस समय परलोकगमन कर चुके थे। इन दसों रानियों के एक-एक पुत्र था। सभी को अपने--अपने पुत्र प्राणों से भी अधिक प्यारे थे। दसों पुत्र अपने भाई राजा कोणिक की युद्ध में सहायता करने के लिए युद्ध में गये हुए थे। दसों रानियाँ भगवान् के समवसरण में आई और उपदेशामृत का पान करने लगीं। भगवान् ने चारों प्रकार की कथा की। उसे सुन कर रानियों के दिल में खलवली मच गई।

मिल कर सब महारानी बोलीं:—
धन--धन वाणी प्रभु! आपकी।
अणी वाणी में परम वैराग, जिनवरजी ॥

जब धर्मोपदेश समाप्त हो चुका तो दसों रानियों ने हाथ जोड़ कर विनय की-प्रभो! आप दया के सागर हैं और सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं। हमारे हृदय में जो संशय है, कृपा करके उसका निवारण कीजिए। चेटक-और कोणिक-राजा का युद्ध हो रहा है। उस युद्ध में हमारे प्राणप्रिय पुत्र भी सम्मिलित हुए हैं। महा प्रभो! कहिए, हम अपने पुत्रों को कब देख सकेंगी? वे हमें कब मिलेंगे?

रानियों ने जो प्रश्न किया, उसके उत्तर में प्रभु ने कहा:—

नो अट्ठे समट्ठे ।

अर्थात—अब यह नहीं हो सकता। तुम अपने पुत्रों से नहीं मिल सकतीं। रानियों के प्रश्न का उत्तर भगवान् ने ज्योतिष से नहीं दिया। साधु ज्योतिष का प्रयोग नहीं करता। जो ज्योतिष एवं निमित शास्त्र के प्रयोग में लग जाता है, वह अपनी साधना से भटक जाता है।

कई महिलाएँ सन्तान प्राप्ति आदि की कामना से प्रेरित होकर ज्योतिषियों, नैमित्तिकों आदि के चक्कर में पड़ जाती हैं। कई तो चमारों की देवी के आगे माथा रगड़ने जाती हैं। कितनी ही छोरे के लालच में पड़ कर अपने पतिव्रत्य धर्म को भी खण्डित कर डालती हैं। लेकिन उन्हें समझना चाहिये कि मनोवांछित सामग्री पुण्य के अनुसार ही प्राप्त होती है। जिसने जितना पुण्य उपार्जन किया हैं, उसे उतनी ही सुखद सामग्री मिलेगी। जिसने आक बोया है उसे कल्पवृक्ष के फल किस प्रकार मिल सकते हैं? ताजियों के नीचे निकलने वाली बाइयां क्या ततीस करोड़ देवी-देवताओं को बेकाम समझती हैं? क्या ताजिया में सन्तान देने की शक्ति है? मगर इस बात का विचार करता कौन है?

कई गुंडे लोग चूड़ियां आदि बेचने का बहाना करके गृहस्थों के घर में आते हैं और घर का हाल-चाल जान जाते हैं।

कई लोग मंत्र--तंत्र के बहाने भी घरों में घुसते हैं और घर का अन्दाज लगा जाते हैं। फिर रात्रि में आकर चोरी कर ले जाते हैं। कई जगह तो यह भी सुना गया है कि इस प्रकार रात्रि के समय घर में घुस कर गुंडे लोग औरत को ही उड़ा कर ले गये !

बहिनों ! समय बड़ा नाजुक है। इस समय में बहुत सावधान और सतर्क रहने की आवश्यकता है। आपको किसी वस्तु की आवश्यकता हो तो आप अपने पति से कह कर नहीं मंगवा सकती है ? पुत्र आदि के द्वारा खरीद नहीं कर सकती हैं ? परन्तु रास्ता चलते, अपरिचित लोगों को घर में मत आवे दो। वे किसी समय धोखा दे सकते हैं, विश्वासघात कर सकते हैं। उनके चंगुल में मत पड़ो। गुंडे लोग कई प्रकार से घरों में प्रवेश करने का प्रयत्न करते हैं। कई लोग बाबा बन कर, महात्मा बन कर, साधु-संयासी का भेष बना कर घर में प्रवेश करने का प्रयत्न करते हैं और कहते हैं-तेरे यहां यों हो जायगा, त्यों हो जायगा। मगर ऐसा कहने वालों को धूर्त्त समझो। उनके पास कोई चमत्कार होता तो वे स्वयं क्यों दरवाजे-दरवाजे पर भीख मांगते डोलते ?

प्राचीनकाल में किसी राजा के यहां पुत्र न होता तो वे महात्मा के पास जाकर पूछते थे। महात्मा उत्तर देते-गौसेवा करो। मेरे पास पुत्र नहीं है। मैं पुत्र का दान कैसे कर सकता हूँ ? कालीदास के रघुवंश को देखने से इस विषय में स्पष्ट जानकारी हो जायगी। मतलब यह है कि पुत्र आदि की प्राप्ति किसी के देने से नहीं हो सकती। वह तो अपने कर्मों के अनुसार होती है। अतएव पुत्र-प्राप्ति के लिए कहीं इधर-उधर भटकने की आवश्यकता नहीं है। इसके अतिरिक्त यह भी समझ लेना चाहिए

कि जो त्यागी होकर भी निमित्तशास्त्र का प्रयोग करता है, वह सच्चा त्यागी--साधु नहीं है ।

भगवान् कहते हैं—राजा चेटक के अचूक वाण के निशान ने तुम्हारे पुत्रों का प्राणहीन कर दिया है। अब तुम्हारे पुत्र जीवित नहीं रहे हैं।

भगवान् महावीर स्वामी का उत्तर सुन कर और अपने पुत्रों की मृत्यु का हाल जान कर दसों रानियों के हृदय को बहुत तीव्र आघात लगा। वे उस आघात को सहन नहीं कर सकीं। मूर्छित होकर धड़ाम से धरती पर गिर पड़ीं। उनकी दासियों ने उचित उपचार करके उन्हें सचेत किया। चेत आते ही रानियां फिर विसूर-विसूर कर रोने लगीं।

रानियों की यह मोहमयी अवस्था देख कर भगवान् ने कहा--रानियों ! रोना व्यर्थ है। रुदन करने पर भी अब परलोकगत पुत्रों का मिलन नहीं हो सकता। अलबत्ता, आर्त्तध्यान करने से तुम भविष्य क लिए और भी अधिक कर्मों का बंध कर लोगी।

कहा जा सकता है कि सर्वज्ञ होने के कारण भगवान् को पता तो था कि इस दुस्संवाद से रानियों को मार्मिक व्यथा होगी, फिर भगवान् ने उन्हें यह संवाद क्यों सुनाया ?

आपको मालूम है कि उपासकदशांग सूत्र में महाशतक श्रावक की कथा आई है। इस श्रावक की १३ पत्नियाँ थीं और वे सभी मिथ्यात्विनी थीं। महाशत सम्यग्दृष्टि और श्रावक था। भगवान् महावीर का चेला था। उसकी पत्नियों में

वती नाम की एक पत्नी बड़ी क्रूर, हत्यारिणी और पापिनी थी। महाशतक ने जब देख लिया कि यह शरीर अब अधिक टिकने वाला नहीं है तो पहले तो उसने श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का वहन किया और फिर संथारा धारण कर लिया। उस समय महाशतक की बारहवों पत्नी कामान्ध होकर उसके पास गई। तब श्रावक ने अवधिज्ञान से जान कर उससे कहा—तू धर्मविमुख है। तू सातवें दिन मर कर छठे नरक में जाएगी।

यह बात भगवान् महावीर स्वामी को विदित हुई। उन्होंने गौतम स्वामी को आदेश दिया—जाओ और महाशतक श्रावक से कहो कि तुमने अपनी पत्नी के प्रति कठोर शब्दों का प्रयोग किया है, अतएव प्रायश्चित्त करो। गौतम स्वामी गये और श्रावक ने दण्ड लेकर आत्मशुद्धि की। इसका कारण यही मालूम होता है कि श्रावक ने क्रोध के वशीभूत होकर यह शब्द कहे थे। किन्तु भगवान् ने रानियों के हित का विचार कर करुणा से प्रेरित होकर फर्माया था। इस पर से यह नियम फलित हुआ है कि छद्मस्थ ऐसी भाषा का प्रयोग नहीं कर सकता। केवलज्ञानी प्रभु अपने ज्ञान में जैसा देखते हैं, कह देते हैं। उन्हें कोई दोष नहीं लगता। भगवान् को विदित था कि अपने पुत्रों की बात सुन कर रानियों को वैराग्य होगा और वे आत्मकल्याण का मार्ग अङ्गीकार कर लेंगी।

भगवान् के कथन का वास्तव में यही परिणाम होना था। दसों रानियां कहने लगीं संसार अनित्य है, नीरस है, निःस्वाद है। हम राजा कोणिक से आज्ञा लेकर साध्वी-दीक्षा लेंगी और अपनी आत्मा का कल्याण करेंगी। इसके बाद सब ने दीक्षा

अङ्गीकार की और रत्नावली, कनकावली आदि उत्कट तप किया। उसी भव में उन्होंने अपना अन्तिम कल्याण साधन कर लिया।

भाइयों ! मनुष्य को प्रायः तीन अवसरों पर वैराग्य आता है—श्मशान में, भोग के अन्त में, और जीवन के अन्त में। परन्तु अकसर वैराग्य की वह लहर टिकती नहीं है—आती है और चली जाती है। मनुष्य जब दाग में जाता है तो वहां बड़ा अफसोस करता है ! संसार की क्षणभंगुरता का विचार करके कहता है—अरे, जिन्दगी तो स्वप्न के समान है ! किसी का जीवन कायम नहीं रहा और न रहेगा। एक दिन अपने को भी चल देना पड़ेगा। परन्तु जब स्नान करके दुकान पर जाता है तो सब भूल जाता है और 'ब्लेक मार्केट' करने लगता है। कम तोलना शुरू क· देता है, नापने में बेईमानी करता है, अगर सरकारी नौकरी है तो रिश्वत खाने लगता है ! वैराग्य उसका हवा हो जाता है ! किन्तु वह भाग्यशाली है जिसके चित्त में आई हुई वैराग्य की हिलोर उसके चित्त के मैल को सदा के लिए बहा ले जाती है और मानव जीवन के वास्तविक कर्त्तव्य की ओर मनुष्य को खींच ले जाती है।

स्थायी वैराग्य भाव उसी को प्राप्त होता है जो स्वाध्याय करता है या धर्म-कथा सुनता है। अतएव आत्म कल्याण करने के लिए धर्म कथा सुनो और स्वाध्याय करो।

भविष्यदत्त चरित—

राजा भविष्यदत्त, मुनिराज विमलबुद्धि के निकट धर्म-कथा सुनने के लिए गया था। धर्मकथा के पश्चात् पुण्य का प्रभाव

प्रकट करने के लिए मुनिराज भविष्यदत्त आदि के पूर्वभव का वृत्तांत प्रकट कर रहे हैं। मुनिराज ने फर्माया कि नन्द (मित्रनन्द) ने मुनि दीक्षा अंगीकार की और तप करके तथा षड्काय के जीवों की यातना करके अपनी आत्मा को विशुद्ध बनाया। मित्रनन्द मुनि उच्च श्रेणी की समता में विचरने लगे थे और अपने शरीर की ममता भी उनमें नहीं रह गई थी। इस तपश्चर्या के प्रताप से वह बारहवें स्वर्ग में इन्द्र के रूप में उत्पन्न हुए।

धनदत्त और धनलक्ष्मी यथा समय मृत्यु को प्राप्त होकर क्रमशः धनावह (भविष्यदत्त के पिता) और कमला (कमलश्री–भविष्यदत्त की माता) के रूप में उत्पन्न हुए। हे भविष्यदत्त ! तुम धनमित्र के जीव जन्मान्तर करके भविष्यदत्त के रूप में उत्पन्न हुए हो। जिस समय तुमने पूर्वभव के शरीर का त्याग किया, उस समय गुणमाला (तुम्हारी पूर्वजन्म की पत्नी) ने तुम्हारे वियोग में बहुत रुदन किया। वह अपने पति के गुणों का स्मरण कर-करके विलाप करने लगी। उस समय कृतसेना उसके पास गई और उसे किसी प्रकार धैर्य बंधाया। गुणमाला ने उसी समय श्वेत साड़ी धारण कर ली। सधवा के योग्य समस्त शृङ्गार का परित्याग कर दिया और संसार की मोह-ममता से अलग रह कर धर्मध्यान करने लगी। यथासमय काल करके वह हस्तिनापुर-नरेश के यहां कन्या के रूप में उत्पन्न हुई।

कृतसेना ने व्रतों को धारण करके धर्म का आचरण किया और भव के अन्त में वह तिलकपुर में सेठ के घर कन्या के रूप में उत्पन्न हुई। कृतसेना का पूर्वजन्म पति बन्धुदत्त के रूप में उत्पन्न हुआ है, जिसने तुम्हे जंगल में छोड़ दिया था।

इस प्रकार कृतसेना, जो तिलकसुन्दरी के रूप में उत्पन्न हुई है, बन्धुदत्त की पूव जन्म की पत्नी है। इसी संस्कार से प्रभावित होकर उसने तिलकसुन्दरी को अपनी पत्नी बनाने का उद्योग किया था। सुमति तुम्हारी पूर्वभव की पत्नी गुणमाला ही है।

इस प्रकार मुनिराज के मुखारविन्द से अपना तथा अपने परिवार का पूर्वभव का वृत्तान्त सुन कर राजा भविष्यदत्त के चित्त में वैराग्य भाव का उदय हो आया। भाइयों ! यह सब धर्म-कथा का ही प्रताप है।

१२-११-४८ }

अटल विधान

स्तुति :-

त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुमांस—
मादित्यवर्णममलं तमसः पुरस्तात् ।
त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्युं
नान्यः शिवः शिवपदस्य मुनीन्द्र ! पन्था ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं कि–हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त शक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन् ! आपकी कहां तक स्तुति की जाय ? हे प्रभो ! आपके कहां तक गुण गाये जाएँ ?

हे नाभिनन्दन ! ऋषभ प्रभो ! मुनिजन आपको परम पुरुष मानते हैं, आप सूर्य के सदृश वर्ण वाले हैं। पूर्ण रूप से निर्मल

हैं और अंधकार से परे हैं। जो आपकी शरण प्राप्त करता है वही मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकता है। हे मुनियों के नाथ ! आपके सिवाय मोक्ष का और कोई कल्याणकर मार्ग नहीं है।

भाइयों ! भगवान् ने स्वयं अजर--अमर पद प्राप्त किया है, इस कारण जो भगवान् का आश्रय लेते हैं, वे पुरुष भी अजर--अमर हो जाते हैं। उन्हें बुढ़ापा नहीं सताता और वे मृत्यु के ग्रास नहीं होते।

वृद्धावस्था और मृत्यु किसी को प्रिय नहीं है, सब को जीवन प्रिय है और जीवन में भी यौवन प्रिय है। आचार्य महाराज ने यहां वही प्रिय पद प्राप्त करने का मार्ग बतलाया है। भगवान् की भक्ति करने, स्मरण करने, उपासना करने और भगवान् के वचनामृत का पान करके तदनुसार व्यवहार करने से भक्त वही पद प्राप्त कर लेता है जो उसे अतिशय प्रिय है और जिस पद को प्राप्त कर लेने पर जरा--मरण का स्पर्श भी नहीं होता।

संसार में बहादुर कौन है ? सर्वोपरि कौन है ? क्या दूसरों को जान से मार डालने वाला बहादुर है ? नहीं, वह बहादुर नहीं है। वास्तव में बहादुर वह है जिसने मौत को मार डाला हो-मृत्यु पर विजय प्राप्त की हो, उसी की बहादुरी ऊँचे नम्बर की है, जो मृत्यु को मार कर अमरत्व को प्राप्त कर चुका हो। वही वीर, बहादुर, जगदुत्तम और पुरुषोत्तम है जो पुनः गर्भ में नहीं आता है। नहीं तो कोई कितना ही बड़ा आदमी क्यों न कहलाता हो, जो मृत्यु का शिकार होता है, उसे छोटा बनना ही पड़ता है।

शास्त्र में कहा है—'घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं' अर्थात् काल बड़ा ही भयानक है और शरीर अत्यन्त निर्बल है। जो शरीर—जीवन श्वासोच्छ्वास पर अवलम्बित है, जिसकी जिन्दगी हृदय के स्पन्दन पर ही टिकी हुई है, उसकी दुर्बलता का और क्या सबूत चाहिए ? जिसके विनाश के सैकड़ों कारण विद्यमान हैं, वह कभी भी समाप्त हो सकता है। जब किसी भी कारण के उपस्थित होने पर जीवन का अन्त सन्निकट आ जाता है, मृत्यु की विकराल मूर्ति नेत्रों के समक्ष होती है, वह समय बड़ा ही डरावना होता है। बड़े-बड़े विद्वानों और बलवानों का भी साहस उस समय चुक जाता है और वे अपने आपको दुर्बल एवं असहाय अनुभव करने लगते हैं। जैसे बकरे के सामने सिंह आ जाय तो बकरे के प्राण सूख जाते हैं और सिंह के द्वारा मारे जाने से पहले ही वह अधमरा हो जाता है, उसी प्रकार मृत्यु की भीषण छाया देख कर बड़े-बड़े निर्भीक सेनापति भी दीन और अधमरे हो जाते हैं मौत इतनी जबर्दस्त है !

मौत प्रकृति का एक अटल विधान है। साधारणतया लोग मृत्यु को एक अत्यन्त अनिष्ट विधान समझते हैं और मौत न हो तो राजी होते हैं। परन्तु दूसरी दृष्टि से भी इस सम्बन्ध में विचार करने की आवश्यकता है। जो लोग आज अपने भाई की बहू का भी पेट नहीं भर सकते, उनके दादा-परदादा आदि सभी पुरखा जीवित होते तो वे उनका पालन-पोषण किस प्रकार करते ? बेटे की विधवा बहू को सासू फूटी आंखों नहीं देख सकती। वह अत्यन्त अनुचित, असभ्य और मर्मवेधी वचन कह कर उसके अन्तस्तल को पीड़ा पहुंचाती है! कहती है—'रांड' तू

मेरे बेटे को खा गई ! हाय हाय, यह कैसा भयंकर अत्याचार है ! जो बेचारी बाई भर जवानी में सौभाग्य से, सांसारिक सुखों से वंचित हो गई है, जिसके लिए जीवन भारभूत हो गया है, जिसकी समस्त आशाएँ धूल में मिल गई हैं, जिसका जीवन परावलम्बी बन गया है, जिसके हृदय में संताप की आग दिन रात दहकती रहती है, जिसको सान्त्वना देने की अत्यन्त आवश्यकता है, उस बेचारी गरीबिनी को जब ऐसी गालियां दी जाती हैं तो कौन कह सकता है कि उसे कैसी वेदना होती होगी ? मैं तो कहता हूँ कि इस प्रकार के अपशब्द कह कर विधवा के जीव को जलाना घोर हिंसा है, ऐसा पाप है कि जिसका प्रायश्चित बहुत कठोर होगा। अपशब्द कहने वाली चाहे सासू हो, चाहे और कोई हो, उसे इसका ऐसा फल भुगतना पड़ेगा कि छठी का दूध याद आ जायगा। विधवाओं के प्रति किये जाने वाले दुर्व्यवहार ने न जाने कितनी विधवाओं को सन्मार्ग से च्यूत कर दिया है ! लोग चाहते तो यही हैं कि विधवाएँ आजीवन शीलव्रत का पालन करें, मगर व्यवहार ऐसा करते है कि वे न गिरना चाहें तो गिरने को मजबूर हो जाएँ ! ऐसा व्यवहार करने वालों ने विधवा विवाह के समर्थकों की संख्या बढ़ा दी है ! यदि आप चाहते हैं कि विधवाएँ अपने धर्म का पालन करें तो आपको अपना व्यवहार बदल देना होगा। विधवाओं के साथ सहानुभूति और आदर का व्यवहार करना पड़ेगा, उन्हें शीलवती होने के नाते सन्मान देना पड़ेगा। अमंगल रूप नहीं मानना होगा।

भला विचार करो कि जैसे सासू को अपना पति प्यारा लगता है, उसी प्रकार क्या बहू को अपना पति प्यारा नहीं लगता

होगा ? फिर सासू ने अपने पति को नहीं खाया तो बहू अपने पति को क्यों खा जायगी ?

बहिनों, ऐसे कठोर शब्द किसी को मत कहो। इससे महान् पाप होता है और घोर पाप कर्मों का बंध होता है।

तात्पर्य यह है कि मरना सब को बुरा लगता है और जीना सब को प्यारा है। श्रीमदाचारांगसूत्र में बतलाया है—

सव्वे पाणा पिआयुआ ।

अर्थात्—प्रत्येक प्राणी को जोवन प्यारा लगता है। मरना किसी को प्रिय नहीं है।

मृत्यु को कोई नहीं चाहता, फिर भी मृत्यु से कोई बचता नहीं है। किसी ने ठीक ही कहा है—

दुनिया में देखो सैंकड़ों, आये चले गये।
सब अपनी करामात दीखाये चले गये
रावण रहा न भीम. न अर्जुन महाबली,
एक वह बचे जो कर्म को मारे चले गये ॥

अगर मौत को जीतना है तो कर्मों का नाश करो। कर्मों को नष्ट करने का मार्ग भगवान् वीतराग देव ने बतलाया है। उस मार्ग पर चलोगे तो फिर जन्मने और मरने का काम ही नहीं रह जायगा ! मौजूदा शरीर तो छोड़ना ही पड़ेगा, लेकिन आगे न जन्म लेना होगा, न मरना होगा ।

शरीर में से जीव निकलने के पाँच स्थान बतलाये गये हैं। ठाणांगसूत्र के पाँचवें ठाणे के तीसरे उद्देशक में कहा है:—

'पंचविहे जीवनिज्झाणमग्गे पएणत्ते, तंजहा-पाएहिं, उरुहिं, उरेणं, सिरेणं, सव्वंगेहि।

(१) पाएहिं णिज्झायमाणे णिरयगामी भवइ।
(२) उरुहिं णिज्झायमाणे तिरियगामी भवइ।
(३) उरेणं निज्झायमाणे मणुयगामी भवइ।
(४) सिरेणं निज्झायमाणे देवगामी भवइ।
(५) सव्वंगेहिं णिज्झायमाणे सिद्धिगइपज्जवसाणे पण्णत्ते।

अर्थात्—शरीर में से पांच स्थानों से जीव निकलता है—(१) पैरों के अंगूठों से लेकर घुटनों तक से (२) घुटनों से लेकर उरुओं तक के भाग से (३) उरुओं-जांघों से लेकर छाती तक के भाग से (४) छाती से लगा कर सिर के भाग तक से और (५) सभी अंगों से। पैरों से निकला जीव नरकगति में जाता है, जांघों से निकला तिर्यंचगति में जाता है, छाती से निकला जीव मनुष्यगति में उत्पन्न होता है। और सिर से निकला हुआ जीव देवगति में उत्पन्न होता है। समस्त अंगों में से निकलने वाला जीव सिद्धगति प्राप्त करता है।

यहां यह बात ध्यान में लेनी चाहिए कि पैरों से लेकर घुटने तक का जो एक द्वार बतलाया गया है, उसमें भी जीव की

निकलने के कई स्थान हो सकते हैं। यह ऊँचाई जीव की गति की ऊंचाई की द्योतक होगी। पैरों के अंगूठे से निकला जीव अगर सातवें नरक में जायगा तो थोड़ी ऊँचाई से निकलने वाला जोव छठे नरक में जायगा। इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिए। स्थूल रूप में गति एक होने पर भी प्रत्येक में तर-तमता होती है। जानवरों में कोई गधा होता है तो कोई हाथी या घोड़ा होता है। मनुष्यों के लिए तो कहावत ही है: –

मनुष्य मनुष्य में अन्तर।
एक हीरा एक कांकर॥

स्त्रियों में भी कोई पद्मिनी तो कोई चुड़ैल होती है। भाइयों! स्त्रियाँ चार प्रकार की होती हैं।

एक बार महादेवजी और पार्वती दोनों बैठे थे। बातचीत के सिल-सिले में पार्वती ने कहा मेरी इतनी उम्र हो गई, परन्तु एक भी छोकरी नहीं हुई। ओ महादेव शम्भु! मेरी एक लड़की तो होनी चाहिए।

भाइयों कोई कितना ही सुखी क्यों न हो, मगर सन्तान के अभाव में उसके सुख की पूर्णता नहीं होती। कहा है:—

शशि बिन रैन रैन बिन रजनी बिन रजनी बिन शशि कस्यो ?
कुच बिन हार हार बिन कज्जल बिन कज्जल श्रृंगार कस्यो ?
दीपक बिन मंदिर घृत बिन भोजन, पुत्र बिना परिवार कस्यो ?
'केवलदास' बनाय कहे भाई! जीवदया बिन धर्म कस्यो ?

भाइयों ! रात्रि की शोभा चन्द्रमा के बिना नहीं होती और चन्द्रमा की शोभा रात्रि के बिना नहीं होती। दिन में चन्द्रमा को देखो तो एक दम श्री हीन--फीका दिखलाई देता है और बिना चन्द्रमा की रात भी बड़ी डरावनी प्रतीत होती है। इसी प्रकार मकान में दीपक न हो तो मकान किस काम का ? अन्त में केवलदास कहते हैं कि जीव दया के अभाव में धर्म कैसा ? जिसके घट में दया नहीं है, उसकी सब बातें झूठी हैं। उसका सारा आचार-विचार मिथ्या है। इसी प्रकार पुत्र के बिना परिवार सूना है।

तो पार्वती, महादेवजी से एक कन्या के लिए प्रार्थना करने लगीं इसी समय सामने से एक गधी आई। महादेवजी ने कहा — पार्वती, ले, यह तेरी छोरी है। पार्वती ने उसे उठाकर काँख में लिया तो वह गधी एक वर्ष की छोकरी हो गई। पार्वती गोद में लेकर बहुत प्रसन्न हुई। छोकरी बालोचित क्रीड़ाएं करती है और पार्वती के सुख का पार नहीं। वह उसे दूध पिलाती है, प्यार करती है, पुचकारती है !

थोड़े दिन इसी प्रकार व्यतीत हो गये। तब पार्वती ने फिर कहा-एक से मेरे क्या होगा ? मुझे तो एक छोकरी और चाहिए। उधर से एक बिल्ली आ गई तो महादेवजी ने कहा-अच्छी बात है, लो, यह तुम्हारी दूसरी छोकरी है। पार्वती ने उसे गोद में लिया तो वह भी छोकरी बन गई। पावती उसे पाकर आनन्दित हो गई।

कुछ समय बीतने के बाद पार्वती को फिर तीसरी छोकरी

की इच्छा हुई । तब वह मौका देखकर महादेवजी से बोली—मुझे तो एक और छोकरी चाहिए । उसी समय एक कुत्ती वहां आ गई । महादेवजी बोले—ले, यह तीसरी छोकरी ले ले । पार्वती ने उसे गोदी में लिया तो वह भी छोकरी हो गई । अब पार्वती आनन्द से रहने लगी । महादेवजी ने पूछा—अब तो आनन्द है ? तब पार्वती ने मुस्करा कर कहा—तीन का टोटका होता है, मुझे तो एक और चाहिए । संयोगवश उसी समय उधर से महालक्ष्मीजी आई । महादेव ने कहा—लो, यह तुम्हारी चौथी छोकरी है । पार्वती ने महालक्ष्मी को जो उठाया तो वह भी छोकरी बन गई । पार्वतीजी चारों छोकरियों को खिलातीं-पिलातीं, नहलातीं और सम्भालतीं । कोई रोती, कोई जिद करती, कोई मल-मूत्र से कपड़ा बिगाड़ लेती । इससे पार्वती भी परेशान हो गईं ! तब व्यंग करके महादेवजी ने एक बार कहा—छोकरियों से अघा गई या नहीं ? और आवश्यकता हो तो संकोच मत करना-कह देना मुझसे !

महादेवजी की व्यंगोक्ति सुन कर पार्वती को भी हँसी आ गई । वह बोली—मैं तो ऊब गई इन छोकरियों से ! जान आफत में आ गई है । अब यह बड़ी भी हो गई हैं । इनकी सगाई करदो ।

महादेव बोले अब यह अडंगा भी मेरे माथे ?

पार्वती—नहीं तो सगाई के लिए किससे कहूँगी ? इन्हें ब्याहना तो पड़ेगा ही ।

क्रमशः सभी लड़कियों का विवाह कर दिया गया । विवाह के बाद विदा होकर जो गई सो फिर आई ही नहीं । एक दिन पार्वती को अपनी लड़कियों का स्मरण हो आया और उनकी

आंखों में आंसू भर आए। तब महादेवजी ने उनसे पूछा—क्यों, आज क्या बात है ? क्या चाहिए।

पार्वती ने कहा—चाहिए क्या ? बारह महीने हो गये। लड़कियां पराई हो गई हैं, तब से आज तक उनकी खबर ही नहीं मिली। नहीं बुलाना हो तो मत बुलाओ, कम से कम खबर तो ले आओ।

महादेवजी चले और पहले पहल गधी बाई के यहां पहुंचे। दोनों ब्याई समधी) मिले। दिन खुशी के साथ व्यतीत हुआ। दूसरे दिन महादेवजी ने समधी से पूछा—हमारी लड़की की तरफ से कोई तकलीफ तो नहीं है आपको ? समधी ने कहा - और तो सब ठीक है, काम भी खूब करती है, पर एक अवगुण उसमें है। वह यह है कि अच्छे कपड़े पहने-पहने भी राख में लोट जाती है। महादेवजो ने मन में सोच लिया- आखिर तो गधेड़ी ही है !

वहां से चल कर महादेवजी बिल्लीबाई के घर पहुंचे। वहाँ भी ससुर से पूछा- आपको लड़की से कोई शिकायत तो नहीं है ? ससुर बोले- सब ठीक है, परन्तु एक बड़ा दोष उसमें है। दूध गर्म करती है तो ऊपर की मलाई खा जाती है और विलोवना करती है तो मक्खन खा जाती है। महादेवजी समझ गए कि है तो बिल्ली !

वहाँ से भी चल कर महादेवजी कुत्तीबाई के घर पहुंचे। वहाँ पूछने पर उन्हें ज्ञात हुआ—बात-बात में गुस्सा करती है और कुत्ते की तरह भौंकने लगती है। महादेवजी को समझते देर

न लगी कि कुत्ती गुस्सा न करेगी और भौंकेगी नहीं तो और क्या करेगी ?

अन्त में महादेवजी चौथी महालक्ष्मी के घर पहुँचे । पूछने पर उनके समधी बोले-सुनिये समधीजी ! जब वह हमारे यहां नहीं आई थी तो हम अन्न के लिए भी तरसते थे । आपकी कन्या आई तो आज मोहरों के घड़े भरे हैं । पहले हमें कुत्ते भी नहीं पूछते थे और अब राजसभा में भी हमारा सन्मान होता है । आपकी बेटी तो साक्षात् लक्ष्मी है । आस-पास ग्रामों और नगरों में दूर-दूर तक उसकी कीर्त्ति फैली हुई है । भला आप सरीखे महापुरुष की कन्या ऐसी न होगी तो किसकी होगी ? महादेवजी समझ गये कि लक्ष्मी तो लक्ष्मी ह है !

यह एक दृष्टान्त है । इस दृष्टान्त का आशय यह है कि स्त्रियाँ चार प्रकार की हैं और पुरुष भी चार प्रकार के होते हैं । जिस पुरुष या स्त्री को कायदे से बैठना उठना नहीं आता, जिसे अपने कपड़े-लत्ते भी सम्भालने का तमीज नहीं है, जो गंदगी में-कूड़े कचरे में ही बैठ जाय, वह पहली श्रेणी में गिनने योग्य है ।

जो बिल्ली बाई के समान हैं वे खूमचे वालों से लेकर चुपके-चुपके गुलाबजामुन गटक जाती हैं. अपने बाल-बच्चों को भी याद नहीं करती ।

जो बात-बात में झगड़ा करे, जिसे अपने पास आया हुआ दूसरा व्यक्ति न सुहाता हो, छोटी-छोटी बातों पर लड़ने को तैयार हो जाय, जिसकी जीभ वश में न रहे और गाली-गलौज करती रहे, उसे कुत्ती बाई की श्रेणी में रक्खा जा सकता है ।

जो सहनशील है, सदाचारी है, जिसके स्वभाव में कोमलता और मधुरता है, जो अपने घर की सुव्यवस्था करता है, वह लक्ष्मी की श्रेणी में रहने योग्य है। इस श्रेणी में कोई भी व्यक्ति क्यों न हो, उसकी कीर्त्ति सर्वत्र फैल जाती है। वह सर्वप्रियता प्राप्त कर लेता है।

हां, तो मनुष्यों में भी इस प्रकार तरतमता होती है। इस तरतमता से देवगति भी नहीं बची है। अगर आँख से जीव निकलता है तो कोई भवनपति, वाण-व्यन्तर आदि में उत्पन्न होता है। यहां भी ऊँच-नीच का भेद यथायोग्य समझ लेना चाहिए।

कहा जा सकता है कि जीव, शरीर के किस स्थान से निकलता है, यह बात कैसे मालूम हो? उत्तर यह है कि इस बात को जांचने के उपाय हैं। मरने के बाद शरीर ठंडा पड़ जाता है, किन्तु जिस हिस्से जीव निकलता है, वह हिस्सा कुछ समय बाद तक भी गर्म मालूम पडता है। कइयों के मरते समय टट्टी-पेशाब निकल पड़ते हैं, तब समझना चाहिए कि वह जीव नीच गति में गया है।

भाइयों! यह चिन्ता मत करो कि मृत्यु के पश्चात् हमें कौनसी गति या योनि मिलेगी? इस बात की चिन्ता करने की आवश्यकता ही क्या है? भविष्य की गति और योनि तो तुम्हारे हाथ की बात है। तुम जो गति प्राप्त करना चाहो वही प्राप्त कर सकते हो। दूसरे लोग तो यह कहते हैं—

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा॥

अर्थात्—अज्ञानी--संसारी जीव अपना सुख-दुःख भोगने में स्वयं समर्थ नहीं है। अतएव ईश्वर के द्वारा प्रेरित होकर वह स्वर्ग या नरक में जाता है।

इस प्रकार कह कर उन्होंने ईश्वर के हाथ में मनुष्य की चोटी पकड़ा दी है। मगर जैन-धर्म का यह विधान नहीं है। जैन-धर्म के अनुसार तो जीव अपने किये कर्मों के अनुसार ही स्वर्ग या नरक में जाता है। जो जैसे कर्म बाँधेगा, उसे वैसी ही गति प्राप्त हो जायगी। ऐसी स्थिति में गति के लिए चिन्तित होने की अपेक्षा अपनी गति को सुधारने के लिए उत्तम आचरण करना ही अधिक उपयुक्त है। पवित्र आचार और पवित्र विचार रक्खोगे तो नीच गति से पाला पड़ ही नहीं सकता। अतएव परभव सुधारना है तो इहभव को सुधारो। जिसने अपना वर्त्तमान जीवन सुधार लिया समझो उसने आगामी जीवन सुधार लिया। इसके विपरीत अगर आपने मौजूदा जीवन को बिगाड़ लिया है, अनीति और अधर्म का आचरण करके मलीन बना लिया है तो लाख चिन्ता करने पर भी भावी जीवन नहीं सुधर सकता। कहा है—

मनुष्य का जन्म अमोलक पाय,
अरे चातुर ! मत एल गँवाय।
हाथ से बाजी तेरी जाय,
भु–गुण गाना हो तो अब गाय ॥

भाइयों ! उत्तम गति में जाना हो तो उत्तम काम करो।

तुम्हारे आज के कर्त्तव्य ही कल तुम्हारे भविष्य का निर्णय करेंगे। उस निर्णय में न ईश्वर का हस्तक्षेप हो सकेगा और न किसी दूसरी शक्ति का। इस प्रकार तुम स्वयं ही अपने भविष्य को मंगलमय बना सकते हो और तुम स्वयं ही अपने भविष्य को अमंगलपूर्ण बना सकते हो। तुम चाहो तो मृत्यु को जीत कर अमरत्व प्राप्त कर सकते हो। ईश्वर के समकक्ष बन सकते हो। कोई ऐसा ऊँचा पद नहीं है जिसे प्राप्त करने का अधिकार तुम्हें न हो। होनी चाहिए योग्यता। योग्यता कर्त्तव्य करने से आती है। इसलिए शास्त्रकार धर्माचरण करने की आवश्यकता प्रकट करते हैं।

भविष्यदत्त चरितः—

अभी जो पद बोला गया था, उसमें बतलाया गया है कि हे चतुर मनुष्य ! यह मानव-जीवन अनमोल है। इसे पाकर वृथा न खो। देख, अवसर निकला जा रहा है। शीघ्र सावधान हो जा।

भाइयों ! शास्त्र सुनने और पढ़ने का तथा सन्तों की वाणी सुनने का एक मात्र प्रयोजन आत्म-कल्याण में उद्यत होना ही है। जो लोग वीतराग की वाणी सुन करके भी उस ओर ध्यान नहीं देते और अपने जीवन को सफल बनाने का कुछ भी प्रयत्न नहीं करते, उन्हें पश्चात्ताप करना पड़ता है। अतएव उपदेश को सुनकर उसके अनुसार प्रवृत्ति करना ही विवेकवान् पुरुषों का कर्त्तव्य है।

राजा भविष्यदत्त ने मुनिराज की वाणी का श्रवण किया। उससे उसे खयाल आया कि संसार अनित्य है। जीवन क्षणिक

है। जल्दी ही आत्महित करने के लिए उद्यत हो जाना ही मेरे लिए उचित है। इस प्रकार विचार करके भविष्यदत्त, मुनिराज को यथाविधि वन्दना करके तुरन्त अपने महल में लौट आया। लौटते ही उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र को बुलाया। बुलाकर राजपाट उसे सौंप दिया। कुटुम्ब का समस्त उत्तरदायित्व भी उसके सुपुर्द कर दिया। इस प्रकार अपना समस्त भार पुत्र के जिम्मे करके उसे उचित शिक्षा दी। भविष्यदत्त ने बतलाया कि किस प्रकार राजा बन कर प्रजा की सेवा में अपनी समस्त शक्तियां समर्पित कर देनी चाहिए। राजा में अन्य मनुष्यों की अपेक्षा कोई प्राकृतिक विशेषता नहीं होती। वह भी अन्य मनुष्यों की भांति ही जन्म लेता है। फिर भी समस्त प्रजा उसे ईश्वर की तरह मानती है। असाधारण सत्कार देती है। इसके बदले में राजा को भी कुछ देना चाहिए। अतएव राजा प्रजा के कल्याण के लिए अपना समग्र जीवन दे देता है। जो ऐसा करता है और प्रजा को पुत्र के समान समझ कर पालता है, वही वास्तव में राजा होने योग्य है। भर जवानी में प्रभुता पाकर बहुत-से रईस मदोन्मत्त हो जाते हैं और कुपथ पर चलने लगते हैं। वे अपने जीवन को नष्ट कर डालते हैं, अपने उत्तराधिकारियों के रास्ते में कांटे बो जाते हैं और प्रजा को भी उन्मार्गगामी बनने की परोक्ष प्रेरणा देते हैं। अतएव जिसके हाथ में सत्ता हो, उसे खूब सोच-समझ कर कदम उठाना चाहिए। उसे स्वयं नीति के मार्ग पर चलना चाहिए और प्रत्येक मूल्य पर नीति की रक्षा करनी चाहिए।

भविष्यदत्त ने आगे कहा— कुमार ! अपने कुटुम्ब का भी समस्त भार अब तुम्हें ही सौंपता हूं। गृहस्थजीवन में पारिवारिक

सुख-शान्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जिसका पारिवारिक जीवन शान्तिपूर्ण अमृत-रस से परिपूर्ण और सन्तोषमय नहीं है, वह कितना ही वैभवशाली क्यों न हो, बाहर उसकी कितनी ही प्रतिष्ठा क्यों न हो, वह वास्तव में सुखी नहीं हो सकता। अतएव तुम अपने जीवन को अगर दिव्य बनाना चाहो तो परिवार को स्वर्ग बनाना। परिवार को स्वर्ग बनाने की कला क्या है? सबसे पहले निष्पक्षवृत्ति की आवश्यकता है। तुम अपने पुत्रों को जितना प्यार करो, अपने भाइयों के पुत्रों को भी उतना ही प्रेम करना। परिवार की महिलाओं का वस्त्र-आभूषण से समान रूप से सत्कार करना। इस विषय में तनिक भी पक्षपात करने से गृहशान्ति नष्ट हो जाती है। सबको समुचित अधिकार देना। कभी दूसरों की इच्छा के सामने झुकना पड़ता है और कभी दूसरों को अपनी इच्छा के अनुकूल झुकाना भी पड़ता है। अतएव अवसर देख कर काम करना।

स्वार्थभावना से भी परिवार में क्लेश उत्पन्न हो जाता है। तुम अपने हृदय में स्वार्थ का भाव न आने देना दूसरों का हिस्सा हड़पने की कभी इच्छा न करना। ऐसा करने से भाई-भाई शत्रु बन जाते हैं। परिवार तहस-नहस हो जाते हैं। देखो, कौरवों की स्वार्थलिप्सा ने महाभारत का बीजारोपण किया। उन्होंने पाण्डवों का हिस्सा हड़प लिया तो कौरव कुल का नाश हो गया! भाई-भाई की फूट से लंका का राजा रावण मारा गया। चेड़ा कोणिक संग्राम का कारण क्या था? उस संग्राम में करोड़ों को प्राण देने पड़े। एक भाई ने दूसरे भाई का हक हथियाना चाहा। इससे कितना बड़ा अनर्थ हुआ! इसलिए मैं कहता हूँ कि तुम

इन उदाहरणों से शिक्षा लेना और दूसरे का अधिकार छीनने का कदापि प्रयत्न न करना।

कुमार ! अधिक क्या कहूँ ? गुरुजनों का समुचित आदर करना। विद्वानों का सन्मान करना। नीतिज्ञों का परामर्श मानना। दरिद्रों की सहायता करना, प्रजा की रक्षा करना। कुसंगति से बचना। सत्संगति करना। अपने जीवन को उज्ज्वल बनाना। कुल की प्रतिष्ठा बढ़ाना। वीतराग प्रभु की भक्ति करना। कनक-कामिनी के त्यागी निर्ग्रन्थ धर्मगुरुओं की उपासना करना। अपने मधुर वचनों से सब को सन्तोष देना। मन से भी किसी का बुरा न सोचना। बस, इतनी बातों पर ध्यान दोगे तो तुम्हारा कल्याण होगा। यह जीवन और आगामी जीवन भी सुखमय बनेगा।

इस प्रकार अपने ज्येष्ठ पुत्र को समझा कर भविष्यदत्त दीक्षा ग्रहण करने को उद्यत हुए। उधर भविष्यदत्त की माता कमलश्री और तिलकसुन्दरी के हृदय में भी वैराग्य की उर्मियाँ उत्पन्न हुई। तीनों ने दीक्षा ग्रहण कर ली। तीनों ने शक्ति भर संयम का पालन करते हुए तपस्या की। अन्त में काल करके तीनों स्वर्ग को प्राप्त हुए। तीनों एक ही विमान में उत्पन्न हुए और उन्हें सोलह सागरोपम की स्थिति प्राप्त हुई।

आपको विदित होगा कि प्रत्येक देवता को जन्म से ही अवधिज्ञान की प्राप्ति होती है। तदनुसार भविष्यदत्त के जीव देवता ने अपने अवधिज्ञान का उपयोग लगाया तो उसे पता चला कि पूर्वभव में मैं भविष्यदत्त था, यह मेरी माता कमलश्री थीं और

यह मेरी पत्नी तिलकसुन्दरी थी। उसे यह भी मालूम हो गया कि विमलबुद्धि महाराज से दीक्षा लेकर और संयम का पालन करके हम तीनों देवगति को प्राप्त हुए हैं।

भविष्यदत्त के जीव देवता ने विचार किया—हस्तिनापुर में मेरा परिवार निवास करता है। हम तीनों वहां जाकर उनसे मिलें और अपना यह दिव्य वैभव दिखलावें। इस प्रकार इच्छा होते ही तीनों देव विमान में बैठकर हस्तिनापुर की ओर चल दिये।

भाइयों! धर्म के प्रताप से सभी सुखों की प्राप्ति होती है। धर्म का आचरण करके भविष्यदत्त ने कितना विकास किया, यह देखकर अगर आप भी धर्म का आचरण करेंगे तो आपका भी कल्याण होगा।

१३-११-४८ }

अशक्यानुष्ठान

स्तुति :–

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धि बोधात्–
त्वं शङ्करोऽसि भुवनत्रयशंकरत्वात् ।
धाताऽसि धीर ! शिवमार्ग विधेर्विधानात्,
व्यक्तं त्वमेम भगवन् ! पुरुषोत्तमोऽसि ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं कि–हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त शक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन् ! आपकी कहां तक स्तुति की जाय ? हे प्रभो ! आपके कहां तक गुण गाये जाएँ ?

भगवन् ! आपका बोध देवों द्वारा पूजित होने के कारण आप बुद्ध हैं, आप तीन लोक में सुख-शान्ति का प्रसार करने

वाले होने के कारण शंकर हैं, आप मोक्ष-मार्ग की विधि का विधान करने वाले हैं, अतः आप ही विधाता हैं। और हे प्रभो ! यह तो स्पष्ट ही है कि आप पुरुषोत्तम हैं। जगत् के समस्त पुरुषों में उत्तम हैं। इस प्रकार बुद्धस्वरूप, शंकरस्वरूप, विधातास्वरूप और पुरुषोत्तम (विष्णु) रूप भगवान् आदिनाथ ऋषभदेव हैं। उन्हीं को हमारा बार-बार नमस्कार है !

भाइयों ! चौवीसों तीर्थंकर सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हुए हैं। अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी थे। आज सौभाग्य से उनके प्रवचन हमें उपलब्ध हैं। भगवान् के ज्ञान में यह निखिल चराचर विश्व प्रतिबिम्बित हो रहा है। उन्होंने अपने केवलज्ञान में देख कर कहा है—'श्री वीर कहे निरधारा, सुन गौतम वचन हमारा' श्री महावीर स्वामी कहते हैं कि छह बातें ऐसी हैं जिनके विषय में किसी की ऋद्धि, ताकत तर्क, बुद्धि, ज्ञान और उत्थान कर्म, बल, वीर्य, पराक्रम, पुरुषकार आदि कुछ भी नहीं चल सकता। अर्थात् किसी की शक्ति नहीं जो इन छह बातों में से कोई एक बात भी फेर सके।

यह सर्वज्ञ भगवान् की वाणी है ! जो इस वाणी को श्रवण करता है, इसका मनन करता है और श्रद्धा लाता है, उसके पाप नष्ट हो जाते हैं। जो जिनवाणी से विरुद्ध बात करता है उसकी बात मिथ्या समझना और उस पर कभी विश्वास मत करना। छह बातों में से पहली बात यह है कि जगत् में जीव को अजीव बनाने की शक्ति किसी में नहीं है। किसी की भी बुद्धि और किसी का भी पुरुषार्थ जीव को अजीव नहीं बना सकता।

कोई कह सकता है कि ईश्वर तो सर्वशक्तिमान् है। क्या उसकी भी शक्ति नहीं कि वह जीव को अजीव बना सके ? अगर वह ऐसा नहीं कर सकता तो सर्वशक्तिमान कैसे रहेगा ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि मनुष्य जब एक गलत धारणा बना लेता है तो उसकी संगति बिटलाने के लिए दूसरी गलत बातें भी स्वीकार करनी पड़ती हैं। इस प्रकार गलत बातें बढ़ती चली जाती हैं और सत्य छिपता जाता है। अभी जो प्रश्न उपस्थित हुआ है, उसके मूल में भी एक गलत धारणा काम कर रही है। वह गलत धारणा यह है कि ईश्वर सर्वशक्तिमान् है। पर वास्तव में ऐसी बात नहीं है। ईश्वर अनन्तशक्तिमान् तो अवश्य है, किन्तु सर्वशक्तिमान् नहीं है। क्या ईश्वर में अपना सरीखा अनादि अनन्त ईश्वर बनाने की शक्ति है ? इसके उत्तर में कोई 'हां' नहीं कह सकता। फिर भी उसे सर्वशक्तिमान् मानने का आग्रह किया जाता है! तात्पर्य यह है कि ईश्वर में भी जीव को अजीव बनाने की शक्ति नहीं है। इसी कारण आत्मा को अविनाशी माना गया है। आत्मा अलख, अगोचर, शाश्वत और सनातन है। उसे कोई अजीव वनाने में समर्थ नहीं है।

जीव की निकृष्ट से निकृष्ट अवस्था निगोद अवस्था है। निगोद में जीव अल्पतम चेतना का धारक होता है। उस समय भी अक्षर का अनन्तवां भाग ज्ञान उसका अनाच्छादित ही रहता है। उस जघन्य ज्ञान पर आवरण नहीं चढ़ता। अतएव जीव कदापि अजीव नहीं हो सकता।

भाइयों! यह सर्वज्ञ सर्वदर्शी का वचन है। यह कदापि मिथ्या नहीं हो सकता। इसमें किसी किस्म की वाधा नहीं आ

सकती। भगवान् ने बतलाया है कि द्रव्य की पर्यायें तो निरन्तर पलटती रहती हैं, परन्तु द्रव्य का सर्वथा नाश कदापि नहीं हो सकता। यही बात आज का विज्ञान भी स्वीकार करता है। इसी बात की पुष्टि हमारे अनुभव से होती है। आप किसी भी वस्तु को लीजिए, उसे पलट कर दूसरे रूप में कर सकते हैं, मगर क्या शून्य रूप में भी परिणत कर सकते हैं? कभी किसी ने ऐसा करके दिखलाया हो तो बतलाए!

सीधी-सादी बात तो यह है कि जो अस्तित्ववान् है, वह अस्तित्ववान् ही रहता है, भूतकाल में उसका अस्तित्व था, वर्त्तमान में उसका अस्तित्व है और भविष्य काल में भी उसका अस्तित्व रहेगा। इसी प्रकार आज जिसकी नास्ति है, वह भूतकाल में भी नहीं था और भविष्यकाल मे भी नहीं होगा। अतएव जीव का नाश नहीं हो सकता। जब नाश नहीं हो सकता अर्थात् जीव कभी जीव रूप से मिट नहीं सकता तो वह अजीव भी नही हो सकता। जीव स्वतः सिद्ध द्रव्य है, उसके मूल में कोई विकृति नहीं हो सकती। तिलों में से तेल निकलता है, क्या कभी रेत में से भी तेल निकलते किसी ने देखा है? सन्तान होगी तो नारी के ही होगी। पुरुष सन्तान का प्रसव नहीं कर सकता। गेहूँ के पौधे में ही गेहूँ लगते हैं। मक्की के पौधे में कभी गेहूँ लग सकते हैं? कहो भाई! है कोई वैज्ञानिक ऐसा जो आक के पौधे में आम्र--फल उगा दे? जब यह भी होना सम्भव नहीं है तो जीव को अजीव कौन बना सकता है? जीव का नाश होता तो गीता में यह न कहा होता:—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः ॥

गीताकार कहते हैं कि कोई भी शस्त्र जीव (आत्मा) को काटने में समर्थ नहीं हैं, कैसी भी आग क्यों न हो आत्मा को जला नहीं सकती । पानी उसे गला नहीं सकता और हवा उसे सोख नहीं सकती ।

इस कथन से भी यही सिद्ध होता है कि जीव सदा जीव के रूप में ही रहता है । जो शस्त्र से कटता है, आग से जलता है, पानी से गलता है और हवा से सूखता है, वह जीव नहीं, कुछ और ही है—जड़ है । इस प्रकार जीव कभी अजीव नही बन सकता ।

शास्त्र में दूसरी बात यह बतलाई गई है कि अजीव कभी जीव नही हो सकता । जब वस्तु को चेतन बनाने में भी कोई समर्थ नहीं है । इस विषय में अनेक मत हैं । उनकी मान्यताएं भिन्न भिन्न हैं । कोई कुछ मानता है, कोई कुछ मानता है । लेकिन भाइयों ! अजीव को जीव कोई नहीं बना सकता है । इस विषय में पूर्वोक्त विवेचन ही पर्याप्त है । ऊपर जो युक्तियाँ दी गई हैं, वही यहां समझनी चाहिए ।

तीसरी बात यह है कि एक साथ दो भाषाएं कोई नहीं बोल सकता । जैसे 'हाँ' और 'ना' दो शब्द हैं । इन दोनों शब्दों को कोई एक साथ नहीं बोल सकता । दो शब्द बोलना चाहेगा तो पहले एक शब्द बोलेगा और फिर दूसरे शब्द का प्रयोग करेगा ।

यह कदापि सम्भव नहीं कि दोनों शब्दों का एक ही साथ प्रयोग कर दे। ऐसा करने की है किसी की ताकत ? चाहे कितने ही ग्रामोफोन या रेडियो क्यों न हों, उनमें से कोई भी एक साथ दो शब्द नहीं बोल सकता। चाहे आसमान से देवता ही क्यों न उतर आवें, वे भी एक साथ दो शब्दों का उच्चारण नहीं कर सकते। इस जगह किसी की बुद्धि, किसी का विज्ञान, मंत्र या तंत्र नहीं चल सकता।

कोई कह सकता है कि हम गंगाजी में खड़े हैं। पाँव हमारे पानी में हैं और सिर पर धूप लग रही है। ऐसे अवसर पर दो बातें साथ में हो रही है। अर्थात् गर्मी भी लग रही है। और सर्दी भी लग रही है। मगर यहाँ भी बारीकी है। जब तुम्हारा ध्यान गर्मी की ओर जाता है तो सर्दी की ओर नहीं जाता और जब सर्दी की ओर जाता है तो गर्मी की ओर नहीं जा पाता। इस प्रकार एक साथ दो उपयोग नहीं होते। एक समय में काम तो हजारों हो सकते है किन्तु तुम्हारा ध्यान तो एक ही तरफ रहने वाला है। वह अनेक तरफ नहीं रह सकता। जब तुम्हारा ध्यान ईश्वर की तरफ होगा तो अन्य चीजों की तरफ नहीं जायगा और जब दूसरी चीजों की तरफ जायगा तो ईश्वर की तरफ नहीं जायगा।

किसी बादशाह की बेगम बदचलन थी। जब वह किसी गैर आदमी के पास जाने लगी, तब बादशाह नमाज पढ़ रहा था। वह नमाज पढ़ने के लिए ज्यों ही नीचे की ओर झुका तो बेगम उसके ऊपर होकर निकल गई। थोड़ी देर बाद वह लौट कर भीतर आई और बादशाह भी भीतर आया। बादशाह ने गुस्से

में आकर पूछा तू मुझे लांघ कर कहाँ गई थी ? बेगम ने कहा—आप सिजदा करते थे, मगर मुझे खबर नहीं थी। मुझे खयाल होता तो मैं आपको लांघ कर क्यों जाती ? मगर आपको मेरे लांघने का खयाल है तो इससे पता चलता है कि आपका खयाल मालिक की तरफ नहीं था। कहा है:—

जैसा चित्त हराम में वैसा हरि में होय।
चला जाय बैकुंठ में, पला न पकड़े कोय॥

बेगम कहती है-यदि आपका ध्यान मेरी ओर था तो खुदा की ओर नहीं था। खुदा की तरफ खयाल होता तो मेरी तरफ़ खयाल न जाता।

यह तो एक उदाहरण मात्र है। कहने का मतलब यह है कि एक साथ दो बातों का ध्यान नहीं रहता। कभी-कभी आपको ऐसा लगता होगा कि हम दो बातों का एक स थ विचार कर लेते हैं। मगर यह आपका भ्रम मात्र है।

एक समय में एक ही भाव का वेदन होता है। जिस समय शीत् की वेदना होती है, उस समय उष्णवेदना नहीं होती और जब उष्णवेदना होती है तो शीत-वेदना नहीं होती, जिस समय आदमी बीमार हो जाता है और उसे वेदना हो रही है, उस समय यदि दस-पांच आदमी आकर उसका मन बहलाने लगें और हास्य-विनोद की बातें करने लगें तो वह आदमी हंसने भी लगता है। उस समय कोई उससे पूछे कि भाई हँस क्यों रहे हो ? तुम्हें तो कष्ट हो रहा था न ? तब वह यही कहता है कि मेरा

चित्त उस ओर नहीं था। तो जब वेदना को भूलेगा तभी हँसी आएगी।

इस प्रकार जैसे एक समय में एक ही उपयोग होता है, उसी प्रकार एक समय में एक ही शब्द का उच्चारण होता है। एक साथ दो शब्द बोलने में कोई समर्थ नहीं है। अगर कोई दो शब्द बोलता है तो एक के बाद ही दूसरा शब्द बोलेगा। उर्दू में 'अलिफ' के बाद 'बे' और अंग्रेजी में 'ए' के बाद 'बी' बोलेगा।

संसार में बहुत से मनुष्य हैं, किन्तु हल अक्षर भी कोई नहीं बोल सकता। बत्तीस व्यंजन और दस स्वर माने गये हैं। व्यंजन अक्षर वह कहलाते हैं जो स्वर की सहायता से बोले जा सकें और स्वर की सहायता के बिना न बोले जा सकें। स्वर वह कहलाते हैं, जिनके उच्चारण में किसी दूसरे की सहायता की आवश्यकता न हो।

चौथी बात यह है कि प्रत्येक जीव को अपने किये कर्म अवश्य भोगने पड़ते हैं। किसी की बुद्धि या शक्ति नहीं जो अपने कृत कर्मों के परिभोग से छुटकारा प्राप्त कर सके। जिसने जो कर्म बाँध लिये हैं, उसका बाप भी उसे उन कर्मों के फल-भोग से नहीं बचा सकता। चाहे कोई राजा हो, चक्रवर्ती हो, देव हो या इन्द्र हो, चाहे तीर्थङ्कर ही क्यों न हो, कर्म किसी को नहीं छोड़ते। रामायण के अनुसार राम ने बाली को तीर मारा तो भागवत में लिखा है कि कृष्ण महाराज को भी पैर में तीर लगा और पार हो गया। तीर मारने वाला पास में आया और रोने लगा। उसे रोता देख कृष्णजी बोले-रोओ मत, मैं बदला चुका कर अब शरीर त्याग रहा हूँ। लोग कहते हैं—

समरथ को नहिं दोष गुसाई ।

तो फिर कहो, यह क्यों हुआ ? कृष्णजी से बढ़ कर सामर्थ्यशाली और कौन था ? वह भी कहते हैं कि मैंने रामावतार में बाली को बाण मारा था, तो उसके फल स्वरूप आज मुझे बाण खाकर शरीर त्याग करना पड़ता है । इससे यही सिद्ध होता है कि कृत कर्मों का फल अवश्य भुगतना पड़ता है । कोई कर्म-भोग से नहीं बच सकता ।

मुसलमानों के यहां भी एक जिक्र चला है । उनके आखिरी मुहम्मद पैगम्बर हुए तो वे एक दिन थोड़ा सो गए । तब खुदा का हुक्म आया कि क्या हमने तुम्हें सोने के लिए भेजा है ? खुदा के इस उपालम्भ से पैगम्बर को इतना दुःख हुआ कि वे एक गड्ढे में जाकर, खड़े-खड़े तीन रोज तक रोते रहे । उन्होंने खुदा से प्रार्थना की-मुझ से जो गुनाह हो गये हैं, उनके लिए माफी दो ।

कहो भाइयों, जो लोग दिन-रात टांगे लम्बी करके पड़े रहते हैं, उनका क्या हाल होगा ? हमारा कहना यह है कि अपने किये हुए गुनाहों का बदला भोगना ही पड़ेगा ।

एक बार इन्द्र ने भगवान् महावीर से कहा-प्रभो ! नाना प्रकार के कष्ट आपके सामने आएंगे । उनका निवारण करने के लिए मैं आपकी सेवा में रहना चाहता हूं । आज्ञा हो तो रहूं । तब भगवान् ने क्या उत्तर दिया था ? मालूम है आपको ? भगवान् ने फर्माया कि-इन्द्र ! मुझे किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं है । तीर्थंकर परायी सहायता से अपना मार्ग

तप नहीं करते। मुझे अपनी ही भुजाओं से भव-सागर पार करना है।

कहने का आशय यह है कि किसी भी तीर्थंकर, अवतार या पैगम्बर की ताकत नहीं कि वह किये हुए कर्मों का फल न भोगे। जो मिर्च खाएगा उसके मुँह में जलन हुए बिना नहीं रहेगी। कोई शराब पीले और चाहे कि नशा न आवे, यह कभी हो सकता है? भाई, इस विषय में किसी की भी नहीं चलती है। कोई कहे कि यह बड़े आदमी हैं। इन्हें गुनाह नहो लगेंगे, परन्तु गुनाह उसको तो क्या, उमके बाप को भी नहीं छोड़ने वाले हैं। जहर अपना काम करेगा और अमृत अपना काम करेगा। चाहे भैंरूजी हों या बालाजी हों, पीर हो या और कोई हो, किसी की ताकत नहीं कि गुनाह करके कह सके कि मैं उसका फल नहीं भोगूँगा। कर्मों के आगे न शनिजी की चलती है, न सूरजजी की चलती है।

कहा जा सकता है कि परमात्मा स्वयं कोई अपराध करे तो उसे फल भोगना पड़ेगा या नहीं? इसका उत्तर यही है कि परमात्मा कोई अपराध नहीं करता है। वह वीतराग है, सर्वज्ञ है, समस्त कामनाओं से अतीत है, निर्मोह है, अशरीर है, समस्त यौगिक व्यापारों से अतीत है। वह कृतकृत्य है। वह कोई अपराध कर ही नहीं सकता। और जो अपराध करता है वह परमात्मा ही नहीं है। तो —

कर्मरेखा न मिटे, लाख मिटाये कोई।
अक्लो दानिश की यहां, पेश न जाए कोई।

कोई अपनी इच्छा से दुखी नहीं होना चाहता। कर्म दो तरह के हैं अच्छे और बुरे। बुरे कर्मों का नतीजा बुरा और अच्छे कर्मों का नतीजा अच्छा होता है। कोई बुरे कर्म करके अच्छा नतीजा पाना चाहे सो भी नहीं हो सकता। इसके सिवाय कोई अपने कर्म फल को दूसरों को नहीं दे सकता। कोई किसी के कर्म फल को ले भी नहीं सकता। बेटे के भाग्य में राज्य है तो उसकी शक्ति नहीं कि वह अपने बाप को दे दे। कई लोगों के पास लाखों--करोड़ों की सम्पत्ति होती है। मरते समय तक वे परोपकार में एक पैसा नहीं लगाते। किन्तु यदि गोद लिये लड़के के भाग्य में सम्पत्ति नहीं है तो एक पैसा भी नहीं रहेगा। इसके विपरीत कई पिता अपने पुत्र के लिए एक पैसा भी नहीं छोड़ जाते, किन्तु आज भी कई ऐसे लखपति मौजूद हैं। बात यह है कि दीपक जहां कहीं जाता है वहीं उजाला करता है। इसी प्रकार पुण्यवान् भी जहां जाता है, वहीं उजाला हो जाता है। जहां पुण्यवान् पुरुष का पादन्यास होता है, वहीं नवनिधान का निर्माण हो जाता है। पापी उसे हाथ लगा दे तो सोना भी मिट्टी बन जाता है।

किसी के घर में अशर्फियां गड़ी थीं। जब उसके यहां नादारी आई और उन अशर्फियों की आवश्यकता हुई तो उसने उन्हें निकाल लेने का विचार किया। जमीन खोद कर जो चरु निकाला तो देखा कि चरु में बिच्छू ही बिच्छू है। वह समझ गया कि इस समय मेरा भाग्य अनुकूल नहीं है। उसने १५-२० बिच्छुओं को डोरे से बांधा और दुकान पर लटका दिया। कोई भी उन लटके बिच्छुओं को देखता वही पूछता--इन

बिच्छुओं को क्यों लटका रक्खा है ? ऐसा प्रश्न करने वालों के विषय में वह सेठ समझ लेता कि ये भी मेरे ही समान भाग्यहीन हैं !

थोड़े दिनों बाद एक भङ्गिन उस दुकान पर आई। उसने देखकर पूछा—सेठजी ! दुकान पर यह अशर्फियाँ क्यों लटका रक्खी हैं ? इस प्रकार प्रश्न सुनते ही सेठ समझ गया कि यह भङ्गिन भाग्यशालिनी है। वह उसे अपने घर ले गया। उसने भङ्गिन से वह जमीन खुदवाई तो चरु निकला। चरु को देखकर भङ्गिन ने कहा—अरे, यह तो अशर्फियों का चरु है ! सेठ बोला—मुझे बिच्छू नजर आते हैं और तुझे अशर्फियाँ दिखलाई देती हैं। अच्छा, तुम भी ले जाओ और मुझे भी दे दो। तब भङ्गिन ने दो धोबे भर कर सेठ के पल्ले में डाले। वह अशर्फियाँ, अशर्फियाँ ही बनी रहीं।

भाइयों ! तकदीर का काम ऐसा जबर्दस्त है। मगर क्या आप यह भी जानते हैं कि यह तकदीर क्या चीज है ? कर्म ही तकदीर कहलाते हैं। कर्म यदि शुभ हैं तो कहा जायगा कि तकदीर अच्छी है और यदि कर्म अशुभ हैं तो कहा जायगा कि तकदीर खोटी है ! ऐसा समझ कर शुभ कर्मों का उपार्जन करना चाहिए। शुभ कर्मों का उपार्जन करने के लिए प्राणियों को साता पहुंचाने की आवश्यकता है। अपनी शक्ति के अनुरूप दान करो, दया पालो, शील का पालन करो, तपश्चरण करो और अपनी भावना को प्रतिक्षण पवित्र बनाये रखने का प्रयत्न करो। अगर तुम्हारे पास लाखों का धन है और सन्तान नहीं है तो उस धन का उपयोग क्या होगा। किसी लड़के को दत्तक ले लोगे तो वह उसका

उपभोग करेगा। इससे तुम्हारा क्या उपकार हुआ ? तुम्हें क्या लाभ हुआ ? तुम तो यों ही कोरे हाथ जाओगे न ? और अगर सन्तान है तो वह भी अपना भाग्य लेकर आई है। तुम्हारे धन से उसके भाग्य का निर्माण होने वाला नहीं है। तुम्हारी सम्पत्ति उसे सुखी नहीं बना सकती। अगर वह सुखी होगी तो अपने कृत कर्मों से होगी। इसलिए अगर तुम्हारे अन्तःकरण में अपनी सन्तान को सुखी बनाने का मिथ्या अहंकार है तो उसका परित्याग कर दो। सब अपने अपने कर्मों के अनुसार ही सुख दुःख पाते हैं।

पाँचवी बात यह है कि परमाणु का, जिसे अंग्रेजी भाषा में 'एटम' कहते हैं और जिसे हम अत्यन्त सूक्ष्म मानते हैं, कोई छेदन नहीं कर सकता। परमाणु को कोई अग्नि में भी नहीं जला सकता। ऐसा करने की शक्ति भी किसी में नहीं है।

छठी बात यह है कि लोक में रहने वाली वस्तुएं लोक में ही रहती हैं। लोक की कोई भी वस्तु अलोक में नहीं पहुंचाई जा सकती। किसी की सामर्थ्य नहीं कि वह ऐसा कर सके।

जैन आगमों में आकाश के दो भेद किये गये हैं-(१) लोकाकाश और (२) अलोकाकाश। आकाश के जिस भाग में जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और काल द्रव्य स्थित हैं, उस भाग को लोकाकाश कहते हैं और जिस भाग में सिवाय आकाश के और कुछ भी नहीं है, जो असीम और शून्य आकाश है, वह अलोकाकाश कहलाता है। यहां यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि जीव और पुद्गल ही गतिशील द्रव्य हैं।

वही एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा सकते हैं। यद्यपि स्थानान्तर में गमन करने की शक्ति इन दोनों द्रव्यों में है, फिर भी गमन करने में निमित्त कारण धर्मास्तिकाय है। जैसे रेल के एंजिन के चलने में लोहे की पांत सहायक होती है, उसी प्रकार जीव और पूद्गल की गति में धर्मास्तिकाय सहायक होता है।

यह बतलाया जा चुका है कि धर्मास्तिकाय की सत्ता लोकाकाश तक ही सीमित है अतएव यह भी स्वाभाविक ही है कि जीव और पुद्गल की गति भी लोकाकाश तक ही सीमित हो। यही कारण है कि अलोकाकाश एकदम सूना आकाश ही है। उसमें आकाश के अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं है।

गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर स्वामी से पूछा – लोक के किनारे खड़ा होकर कोई मनुष्य अपना हाथ लम्बा कर दे तो उसका हाथ अलोकाकाश तक फैलेगा या नहीं ? भगवान् ने उत्तर दिया नहीं, ऐसा कदापि नहीं हो सकता।

अलोकाकाश में जाने की शक्ति किसी में नहीं है। स्वर्ग, मोक्ष, नरक, आदि सभी गतियाँ और सभी योनियाँ लोक में ही हैं।

इस प्रकार पूर्वोक्त छह बातें करन की किसी में शक्ति नहीं है। भाइयों ! यह केवली भगवान् का बतलाया हुआ सिद्धान्त है। यह कभी मिथ्या नहीं हो सकता। वीतराग की वाणी त्रिकाल-अबाधित है। इसमें लेश मात्र भी सन्देह नहीं करना चाहिए।

भविष्यदत्त चरित:—

भाइयों! वीतराग भगवान् की वाणी पर श्रद्धा करने से और शक्ति के अनुसार उसका आचरण करने से किस फल की प्राप्ति होती है, यह बात कथा के द्वारा समझाने के प्रयोजन से मैंने व्याख्यान के साथ भविष्यदत्त का चरित आपको सुनाया है। यह चरित मनोरंजन के लिए नहीं सुनाया जा रहा है और न समय विताने के लिए। कथा के द्वारा कही हुई बात सुगमता के साथ सभी समझ लेते हैं। इस विचार से ही आपको चरित सुनाया जा रहा है।

वीतराग-वाणी की श्रद्धा और आराधना करके भविष्यदत्त राजा का जीव स्वर्ग में उत्पन्न हुआ अवधिज्ञान से विदित हो गया कि मेरा पूर्वभव का परिवार हस्तिनापुर में है। यह जान कर वह अपना वैभव प्रदर्शित करने के लिए दिव्य विमान में बैठ कर रवाना हुआ। साथ में दोनों देव भी थे। जब तीनों देव हस्तिनापुर में पहुंचे तो विमान देख कर हस्तिनापुर निवासी चकित रह गए। सबको चकित देखकर देव ने अपना परिचय दिया। कहा—मैं भविष्यदत्त हूं, यह कमलश्री है और यह तिलकसुन्दरी है। तप और संयम की आराधना करके हम स्वर्ग में देव रूप में उत्पन्न हुए हैं। और आप सबसे मिलने के लिए यहां चले आए हैं।

धर्म के फल का साक्षात् स्वरूप देख कर सब के हृदय में धर्मप्रेम की वृद्धि हुई। सब ने उनकी प्रशंसा की। तत्पश्चात् सब

के देखते ही देखते देव स्वर्ग को सिधार गये ; कई सागरोपम तक उन्होंने वहां स्वर्गीय सुखों का उपभोग किया।

स्वर्ग की स्थिति जब पूर्ण होने को होती है तो उनके गले की माला कुम्हला जाता है। उससे देवों को यह सूचना मिल जाती है कि अब च्यवन के दिन नजदीक आ गये हैं। सबसे पहले कमलश्री के जीव देव के गले की माला कुम्हलाई। नियत समय पर देव स्वर्ग से च्युत होकर राजकुमार क रूप में गंधर्वपुर नगर में उत्पन्न हुआ। कालान्तर में राजकुमार बड़ा हो गया। समस्त विद्याओं और कलाओं में कुशल हो गया। उसका नाम वसुन्धर हुआ। युवावय में आने पर उसे राज्य की प्राप्ति हुई और राजा वसुन्धर न्याय-नीति से प्रजा का पालन करने लगा।

कालान्तर में शेष दोनों देव स्वर्ग से च्युत होकर वसुन्धर के यहां पुत्र रूप से उत्पन्न हुए, राजा ने देवपाल और महीपाल नाम रक्खा और खूब हर्ष मनाया।

राजा वसुन्धर ने दीर्घकाल तक राज्य किया। प्राचीन काल के राजा अगर राज्य का सुख भोगते थे तो परमार्थ को भूल नहीं जाते थे। प्रायः राजा लोग अन्तिम समय में, जब पुत्र राज्य कार्य का संचालन करने योग्य हो जाता था तो, पुत्र को राज्य सौंप कर आत्मकल्याण के लिए निवृत्तिमय जीवन व्यतीत करते थे। राजा वसुन्धर ने भी अपने पुत्र को यथासमय राज्य का उत्तरदायित्व सौंप दिया और श्रीधर नामक मुनि की सेवा में उपस्थित होकर संयम धारण कर लिया। उत्कृष्ट संयम और घोर तपश्चरण करके मुनिराज वसुन्धर ने अन्त में मुक्ति प्राप्त की।

राजा वसुन्धर के पश्चात् देवपाल और महीपाल राज्य का सुचारु रूप से संचालन करने लगे। उनके पास प्रभूत ऋद्धि थी, राजकीय वैभव था और सुख की सभी सामग्री सहज ही उन्हें उपलब्ध थी। अतएव दोनों भ्राता परस्पर प्रीतिपूर्वक रहते हुए सांसारिक भोगोपभोग भोगने लगे। एक बार की बात है कि दोनों भाई वनक्रीड़ा करने के लिए वन में गये थे। वहां उन्होंने एक मृगयूथ को देखा। मृग जंगल का जीव है। भोला-भाला और भद्र-प्राणी है। बेचारा तृण खाकर अपने प्राणों की रक्षा करता है। प्रकृति-जीवी है। किसी का कुछ बिगाड़ नहीं सकता। फिर भी अज्ञान और मांसलोलुप लोग उसका वध करने से नहीं चूकते ! कितनी निर्दयता और कितनी कठोरता है !

वन का मृगयूथ अपनी स्वाभाविक क्रीड़ा में मस्त था। निर्भय था। स्वप्न में भी आशंका नहीं थी कि कोई दुर्घटना होने को है। मगर अचानक वहां एक व्याध आया और उसने तीर मार कर एक मृग के प्राण ले लिये। मृग बेचारा एक पल पहले किलोलें कर रहा था और दूसरे ही पल धराशायी होकर छट-पटाने लगा दूसरे मृग उसकी यह दशा देख भयभीत होकर भाग गये !

देवपाल और महीपाल इस करुणापूर्ण दृश्य को देखते ही रह गये ! मृग की दशा देखकर दोनों भाइयों की आँखों में आँसू आ गये। जीवन की क्षणभंगुरता प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ी। उन्हें यह भी बोध हो गया कि अन्तिम समय में कोई भी साथी-संगी, कुटुम्ब-परिवार काम नहीं आता। जब तक मृत्यु नहीं आई, तब

तक दूसरे लोग साथी हैं। मृत्यु आने पर कोई लोग साथ नहीं दे सकता! संसार मिथ्या है, इस प्रपंच से मुक्त होने में ही कल्याण है।

इस प्रकार सोच-विचार करते-करते उनके हृदय में वैराग्य उत्पन्न हो गया। वे उसी समय अपने महल में लौट आये। राज-पाट त्याग कर दोनों ने संयम ग्रहण कर लिया और अपनी आत्मा का अप्रतिम तेज प्रकट करके सिद्धि प्राप्त की।

इस प्रकार भविष्यदत्त ने क्रमशः अभ्युदय की ओर अग्रसर होते-होते चरम अभ्युदय प्राप्त कर लिया।

१-११-४८ }

साधुता की निकषा

स्तुतिः—

तुभ्यं नमस्त्रिभुवनार्तिहराय नाथ !
तुभ्यं नमः क्षितितलामलभूषणाय ।
तुभ्यं नमस्त्रिजगतः परमेश्वराय
तुभ्यं नमो जिन ! भवोदधिशोषणाय ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं कि—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन् ! आपकी कहाँ तक स्तुति की जाय ? हे प्रभो ! आपके कहां तक गुण गाये जाएं ?

हे जिनदेव ! आप तीन लोक के अर्थात् तीन लोक के समस्त प्राणियों के कष्टों को हरण करने वाले हैं। प्रभो आपको नमस्कार हो !

हे वीतराग ! आप इस भूतल के निर्मल आभूषण हैं। प्रभो ! आपको नमस्कार हो।

हे जिननाथ ! संसार में देव तो बहुत हैं, किन्तु आप तीनों लोकों के देव हैं–परमेश्वर हैं। प्रभो ! आपको नमस्कार हो।

हे जिनेन्द्र ! आपने ससार रूपी समुद्र को सोख लिया है, अर्थात् चतुर्गति रूप संसार भ्रमण का अन्त कर दिया है। प्रभो ! आपको नमस्कार हो।

इस स्तुति में आचार्य महाराज ने भगवान् को समस्त प्राणियों की पीड़ा का प्रणाश करने वाला प्रतिपादन किया है। इस पर यह आशंका की जा सकती है कि क्या ईश्वर कर्त्ता है ? यदि ईश्वर कर्त्ता नहीं तो फिर दु.खों का न.शकर्त्ता भी कैसे हो सकता है ? प्रश्न ठीक है। हमें सोचना चाहिए कि आखिर ऐसा क्यों कहा गया है ? बात यह है कि जैन धर्म अनेकान्तवादी धर्म है। वह विभिन्न दृष्टिकोणों से वस्तु तत्त्व की विवेचना करता है। तीर्थंकर देव ने अहिंसा का उपदेश दिया है। अहिंसा का अर्थ है- किसी प्राणी को पीड़ा न पहुंचाना। इसका आशय यह निकला कि प्राणी मात्र की पीड़ा को नष्ट करने का उपदेश देने के कारण भगवान् आर्त्तिनाशक हैं। दूसरे, तीर्थंकर भगवान् ऐसा मार्ग बतलाते हैं। जिससे कि शारीरिक और मानसिक सभी पीड़ाओं से प्राणी छुटकारा पा जाय। उदाहरणार्थ किसी रोगी को एक सुवैद्य ने रोग-नाश करने वाली औषध बतलाई। रोगी ने वैद्य का कहना मान कर औषध का सेवन किया और दुःख से छूट गया। अब रोगी उस वैद्य से कहेगा या नहीं कि—वैद्यराज ! आप मुझे

दुःख से छुड़ाने वाले हैं ! यद्यपि औषध का सेवन स्वयं रोगी ने किया है और औषध के प्रभाव से दुःख का अन्त हुआ है, फिर भी रोगी तो वैद्य के प्रति ही कृतज्ञता प्रदर्शित करता है ! इसी प्रकार जीव भगवान् के उपदेश के अनुसार प्रवृत्ति करके दुःखों से मुक्त होते हैं, अतएव भगवान् दुःखों का नाश करने वाले कहलाते हैं ।

तीसरी बात यह है कि भगवान् अशरीर अवस्था को प्राप्त हो चुके हैं । अशरीर अवस्था प्राप्त हो जाने पर वे किसी भी जीव को पीड़ा नहीं पहुंचाते इस कारण भी उन्हें आर्तिनाशक कह सकते हैं ।

इस प्रकार परमेश्वर जगत् के कर्त्ता न होने पर भी जगत् की पीड़ा के नाशक हैं । इन्हीं अभिप्रायों से आचार्य महाराज ने भगवान् ऋषभदेव को आर्त्तिनाशक कहा है ।

भाइयों ! जब भगवान महावीर इस जगतीतल पर विराजमान थे, तब एक समय राजगृही के उद्यान में पधारे । भगवान के चौदह हजार शिष्यों के शिरोमणि गौतम स्वामी उनके साथ थे । वे जाति से ब्राह्मण थे, किन्तु चौदह पूर्व के पाठी तथा बड़े विद्वान, बुद्धिमान और भाग्यवान् थे । उस समय वे विनय पूर्वक भगवान से प्रश्न किया करते थे । उन्होंने एक बार जीव, पुद्गल और काल के सम्बन्ध में प्रश्न किया । तब भगवान ने फर्माया- जगत् में अनन्तानन्त जीव हैं, पुद्गल भी अनन्त हैं और काल भी अनन्त है । अनन्तकाल बीत गया है, वर्त्तमान में बीत रहा है और अनन्त काल बीतेगा । न इधर का किनारा है, न उधर का

अन्त है। जो काल बीत जाता है, वह सदा के लिए ही बीत जाता-है। वह किसी जगह जाकर जमा नहीं होता और दोबारा फिर नहीं आता।

कहा जा सकता है कि काल का बीतना दृष्टिगोचर तो होता नहीं है, फिर कैसे पता चले कि काल व्यतीत हो रहा है? ऐसा कहने वाले को समझना चाहिए--नौ महीने तक वह गर्भ में रहा, बाद में बाल्यकाल गया, यौवन गया और बुढ़ापा आ गया। यह अवस्थाओं का भेद काल के बीते बिना नहीं होता। अतएव इसी से काल के बीतने का अनुमान लगाना चाहिए। नये का पुराना होता है, यह काल के बीतने का प्रमाण है। अगर व्यतीत न होता तो गर्भ में से बच्चा निकले ही नहीं। बालक गर्भ में से समय निकलने पर ही निकलता है। भाइयों! यह काल परिवर्त्तन रूप है! प्रत्यक्ष देख लो, एक दिन ऐसा था कि जोधपुर में आप दौड़े-दौड़े फिरते थे। पर आज लाठी टेक-टेक कर चलना पड़ता है। एक दिन चार सीढ़ियां भी लांघ जाते थे और आज एक सीढ़ी भी उतरना कठिन हो गया है!

इस प्रकार बीतते-बीतते अनन्त काल व्यतीत हो गया है। मत समझना कि व्यतीत हुआ काल कहीं जमा हो रहा है। कुए में से निकला हुआ पानी वाष्प बन कर कदाचित् उसी कुए में आ सकता है, किन्तु जो काल व्यतीत हो चुका है, वह कदापि नहीं आ सकता। फिर भी काल का कभी अन्त नहीं हुआ और न होगा ही, क्योंकि वह अनन्त है।

जैसे काल अनन्त है, उसी प्रकार जीवात्माएँ भी अनन्ता-

नन्त हैं। जीव एक होता तो सब से सुख दुःख अलग-अलग न होते। बल्कि एक के बी. ए. पास होने पर सभी बी. ए. पास हो जाते। अर्थात् एक जीव के ज्ञान की वृद्धि होने पर सभी के ज्ञान की वृद्धि होनी चाहिए। एक सुखी हो तो सभी सुखी होने चाहिए। एक के दुःखी होने पर सभी को दुःख की वेदना होनी चाहिए। मगर ऐसे नहीं देखा जाता। इसलिए यही मानना युक्ति और अनुभव से संगत है कि सभी जीवों का अस्तित्व अलग-अलग है। जीव अनन्तानन्त होन के साथ अविनाशी भी है। वह एक शरीर का परित्याग करके दूसरे शरीर को धारण कर लेता है, एक योनि का परित्याग करके दूसरी योनि को ग्रहण करता है, भव भवान्तर करता है, किन्तु उसका नाश कभी नहीं होता हैं।

पुद्गल भी अनन्त हैं। पुद्गल दो प्रकार के हैं--अणु और स्कध। ये भी जगत् में जमा ही रहते हैं। पुद्गल की भी अवस्थाओं में परिवर्त्तन होता रहता है, किन्तु मूल द्रव्य ध्रुव रूप में विद्यमान रहता है। आज एक पुद्गल कपड़े के रूप में है। कुछ दिनों बाद खाद के रूप में परिणत हो जाता है। फिर गेहूँ या कपास या रुई का रूप धारण कर लेता है। फिर भी नाना परिवर्त्तन होते रहते हैं।

संसार में ऐसा कोई पुद्गल नहीं जिसे जीव ने आंखों से न देखा हो, नाक से न सूंघा हो या जिसे अपने शरीर के रूप में परिणत न किया हो। और यह सब एक--एक बार नहीं अनन्त-अनन्त बार किया। यह जीव अनादि काल से अब तक समस्त पुद्गलों को अनन्तवार परिभोग कर चुका है। समस्त पुद्गल नाना रूप धारण करके जीव के उपयोग में आ रहे हैं। पुद्गल

वही है और जीव भी वही है। संसार में न कोई नया पुद्गल, उत्पन्न होता है, न नवीन जीव ही उत्पन्न होता है। मात्र दोनों में परिवर्त्तन होता रहता है। जब कोई बड़ा परिवर्त्तन होता है तो उसे लोग उत्पन्न होना कह देते हैं। इसी प्रकार विनाश के सम्बन्ध में समझना चाहिए।

श्रीगौतम स्वामी ने दूसरा प्रश्न किया—जीव धर्मप्रतिष्ठित है, अधर्मप्रतिष्ठित है या धर्माधर्मप्रतिष्ठित है ?

भाइयों! यहां जो विकल्प किये गये हैं, उनमें अखिल विश्व के समस्त जीवों का अन्तर्भाव हो जाता है। एक भी जीव इन विकल्पों से बाहर नहीं रह जाता। जैसे स्त्री, पुरुष और नपुंसक—इन तीन विभागों में सब जीवों का समावेश हो जाता है, उसी प्रकार पूर्वोक्त तीन विकल्पों में भी सब का समावेश हो जाता है।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान फर्माते हैं-हे गौतम! जीव धर्म में भी स्थित हैं, अधर्म में भी स्थित हैं और धर्माधर्म में भी स्थित हैं। महाव्रतधारी साधु और साध्वियाँ धर्म में स्थित हैं।

प्रश्न उपस्थित होता है कि साधु किसे कहते हैं? क्या जो धोती, पगड़ी और अंगरखी न पहने वह साधु कहलाता है? अगर इन चीजों को छोड़ कर दूसरे प्रकार के कपड़े पहन लिये है तो क्या इसी से कोई साधु हो जाता है? नहीं। जिसने दूसरी तरह के वस्त्र धारण कर लिये हैं, उससे पूछना चाहिए कि आपने कौन-कौन से नियम धारण किये हैं? पहले रेल में बैठते थे और

अब रेल में बैठना छोड़ा है या नहीं ? अगर कोई कहता है कि नहीं, रेल में तो अब भी बैठते हैं, तो उससे कहना चाहिए कि फिर अकेले कपडे बदल लेने से कोई साधु नहीं हो सकता। पहले पीतल, तांबे और चांदी के वर्त्तन रखते थे और अब भी रखते हैं तो फिर त्याग क्या किया है ? धन-पहले भी रखते थे और अब भी रखते हो तो फर्क क्या पडा ? कोई कहे कि पहले ब्रह्मचर्य नहीं पालते थे और ब्रह्मचर्य पालते हैं तो भाई ! जहाँ धन है और भोजन-पान का विवेक नहीं है वहाँ भले कोई स्त्री को न रखता हो, पर उसका ब्रह्मचर्य पालना तो बड़ा ही कठिन है ! आखिर वह धन किस लिए रक्खा गया है ? जिसने विषय का परित्याग कर दिया हो, उसे धन रखने का क्या प्रयोजन है ? जो भोजन के लिए चांदी और सोने के पात्र रखता है, समझना चाहिए कि उसकी विलासिता की मनोवृत्ति अभी तक बनी हुई है। और जब विलासिता की वृत्ति बनी है तो फिर ब्रह्मचर्य का पालन किस प्रकार संभव हो सकता है ? मेरे कहने का आशय यह न समझा जाय कि ऐसा कोई पुरुष ब्रह्मचारी हो ही नहीं सकता, मगर ऐसी स्थिति में ब्रह्मचर्य का पालन सुकर नहीं है। ब्रह्मचर्य को पालने के लिए संयम और सादगी की तथा रूक्षवृत्ति की आवश्यकता होती है।

जिनके पहले भी घर था और इस समय भी घर है और उस घर का किराया भी आता है तो कहो साधु बनने का अर्थ क्या हुआ ? हां, एक ही फायदा हुआ कि पहले महाराज नहीं कहलाते थे और अब महाराज कहलाने लगे। मैं किसी की बुराई नहीं करना चाहता, पर साधुता का सही स्वरूप बतलाना चाहता हूँ। असल में सोचना यह चाहिए कि सन्यासी बने या साधु बने

तो क्या अधिकता आई ? त्याग का परिमाण कितना बढ़ा ? विरक्ति या अनासक्ति कितनी बढ़ी ? निराकुल भाव में कितनी वृद्धि हुई ? संयम का स्तर कितना ऊँचा उठा ? अगर शुद्ध हृदय से इन प्रश्नों का उत्तर संतोषजनक मिले तो समझना चाहिए कि कुछ अधिकता आई है, नहीं तो नहीं।

संसार के रगड़े--झगडे छोड़ कर साधु का वेष धारण किया और फिर भी यदि हिंसा, असत्य, चोरी, कामवासना और परिग्रह का त्याग न किया तो क्या लाभ हुआ ? सच्चे साधु वही हैं जो इन पाँच पापों का सेवन करते नहीं है, कराते नहीं है और करते को भला जानते नहीं हैं। साधु भोजन बनाते नहीं हैं और बनवाते भी नहीं हैं। बना-बनाया भोजन जहां मिल जाता है वहां से ले आते हैं और लाया हुआ भोजन दूसरे दिन के लिए रखते नहीं हैं।

भाइयों ! दुनिया में टेक अच्छी या सत्य अच्छा ! टेक पकड़ो तो आपकी मर्जी और सत्य पकड़ो तो यह गुण जिनमें विद्यमान हों, उन्हीं को साधु समझो। इसी में आपकी भलाई है।

साधु गृहस्वामी की आज्ञा हो तो ही उसके मकान में ठह-रते हैं। आज्ञा न हो तो नहीं ठहरते हैं। जब आज्ञा पाकर किसी गृहस्थ के मकान में ठहर जाते हैं तो वहाँ से रवाना होते समय गृहस्थ को उसका मकान संभला कर जाते हैं, ऐसा नहीं कि पिछली रात को ही रवाना हो जाएँ !

साधु मठ, दुकान, हवेली, हाथी, घोड़ा, तोता, मैना, कुत्ता, गाय, भैंस आदि कुछ भी नहीं रखते। अगर ऐसी चीजें रखने

लगें तो फिर ईश्वर का भजन करने का अवकाश ही उन्हें न मिले? फिर गृहस्थ और साधु में अन्तर ही क्या रह जाय? जो पशुओं का पालन-पोषण करने में ही लगा रहेगा, वह साधु के योग्य चिन्तन-मनन, ईश्वरोपासना आदि नहीं कर सकता।

साधु चोरी नहीं करते। यही कारण है कि उन्हें गृहस्थ लोग ऐसे मकानों में भी ठहरा देते हैं, जहां तिजोरियां भरी पड़ी रहती हैं और जरा भी सन्देह नहीं लाते। एक बार ऐसा मौका आया कि हमें एक दुकान में ठहराया गया। उस दुकान में तिजोरियां पड़ी थीं और उनमें सोने के जेवर भरे थे। यह सब देखकर मैंने दुकान के मालिक से कहा—भाई, हमारे पास किसी को आने की मनाई नहीं है और तरह-तरह के लोग आते-जाते हैं। हम इधर-उधर जाएं और तुम्हारी कुछ हानि हो जाय तो हम उत्तरदायी नहीं हैं। श्रेष्ठ यही हो कि हमें ठहरने के लिए कोई दूसरी जगह बतला दो। कदाचित् हमारी मौजूदगी में भी कोई कुछ उठा ले जाय तो हम मनाहीं नहीं करते और बाद में कोई उसका नाम पूछे तो उठा ले जाने वाले का नाम भी नहीं बतलाते! फिर भी हमें वहीं उतारा गया!

आखिर लोग हमें ऐसी जगह क्यों उतार देते हैं? इसी कारण तो कि लोगों को विश्वास है कि यह चोरी नहीं करते। हजारों-लाखों का माल घरों में पड़ा रहता है और हम बेखटके घुस जाते हैं। किसी को हमारे ऊपर अप्रतीति नहीं होती, क्योंकि वे जानते हैं कि यह त्यागी हैं।

रास्ते में नदी, तालाब, कूप आदि मिलते हैं, परन्तु प्यास

लगी हो तो भी सचित्त जल का उपयोग नहीं करते। मर जाना मंजूर मगर कच्चे पानी से दूर! कोई कह सकता है कि जंगल में कौन देखता है? मगर हम कहते हैं कि साधुपन दिखलाने के लिए नहीं है। साधुता अपनी आत्मा का कल्याण करने के लिए अंगीकार की जाती है। यदि कोई बहुरूपिया की तरह साधु का स्वांग बना लेता है तो भले ही उसे विना मेहनत किये रोटी के टुकड़े मिल जाएँ, मगर मोक्ष नहीं मिल सकता।

जूते पहिरना नहीं, साइकिल, मोटर या रेल की सवारी करना नहीं, बीड़ी, सिगरेट, गांजा, चंडू, चरस आदि पीना नहीं, अग्नि छूना नहीं, और किसी भी कुव्यसन का सेवन करना नहीं, यह सब साधुओं के लिए अनिवार्य नियम हैं। हम बाल स्वयं उखाड़ते हैं, विहार करते समय मजूर से वजन नहीं उठवाते हैं और सूर्य की साक्षी से विहार करते हैं। कोई कहे कि सूर्योदय के पश्चात् विहार करने से धूप लगती है, तो तुझे इतनी उतावल क्यों है? क्या तेरा कोई काम कहीं हर्ज हो रहा है? दो-दो कोस का ही विहार कर! अधिक दौड़ा-दौड़ करने की तुझे क्या आवश्यकता है? बल्कि जल्दी-जल्दी लम्बा विहार करने से तो ईर्यापथ भी नहीं शोधा जा सकता। साधु को तो चार हाथ जमीन आगे की देख कर, जीव-जन्तु की रक्षा करते हुए चलना चाहिए। जल्दी-जल्दी चलने की आवश्यकता ही क्या है? जब यहाँ पहुँच गये सो पहुँच गये और न पहुँचे तो न सही!

यह साधुपणा वह पणा नहीं, जो खरबूजे का खाते हैं।
उसमें है मजा इसमें न मजा, कोई वीर ही पार लगाते हैं॥

याद रक्खो, यह साधुपना है, कोई खरबूजे का पानी नहीं है। जिसकी शक्ति हो वह ले और शक्ति न हो तो न ले! यहां किसी प्रकार की जबर्दस्ती नहीं है। हम शहर में मूंड़ते हैं मगर हमारी पद्धति के अनुकूल न चले तो जंगल में ही छोड़ देते हैं।

तो आशय यह है कि जो पांच मूल व्रतों का पालन करता है और पूर्वोक्त उत्तर गुणों का भी पालन करता है, वह धर्म में स्थित जीव कहलाता है। ऐसे उच्च चारित्र का पालन करना सरल नहीं है। कोई शूरवीर ही इसका पालन कर सकता है। समग्र भारतवर्ष में और विदेशों में भी खोज डालो, ऐसी रीति का पालन करने वाले अन्यत्र नहीं मिलेंगे। जो मेरे-तेरे मजहब की जिद पकड़ कर बैठे हैं, उनकी बात निराली है, किन्तु जो सच्चाई की तलाश में है, उनसे मैं यही कहूंगा कि ऐसी रीति-नीति का पालन दुनिया में बहुत कठिन है!

कदाचित् किसी को यह खयाल हो कि यह अतिशयोक्ति कर रहे हैं, आत्मप्रशंसा कर रहे हैं और इसमें सत्य नहीं है अथवा थोड़ा है तो वे एक दो मास हमारे साथ रह कर देख लें और परीक्षा कर देखें। उनकी परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाएँ साधु समझें और यदि अनुत्तीर्ण हो जाएं तो साधु न समझें। जिस साधु के मूल गुणों में त्रुटि हो वह साधु कहलाने योग्य नहीं है, अलबत्ता उत्तर गुणों में न्यूनाधिकता रहती है।

साधु का धर्म नहीं कि वह यह कहे कि मैं सर्वोत्कृष्ट संयम का पालन करने वाला हूं और दूसरे यों ही हैं। हमारे साधु अच्छे और तुम्हारे साधु बुरे, ऐसा दावा करना भी मिथ्या है। वास्तव

में साधु वही है जो साधु के धर्म का, आचार का, संयम का पालन करता है। जिसने यों ही वस्त्र बदल लिये हैं, उसमें और गृहस्थ में क्या अन्तर है ?

दूसरी श्रेणी में अधर्म प्रतिष्ठित जीव आते हैं। जो हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह आदि पापों का सेवन करते हैं, वे अधर्मी हैं। जो रात्रि में भोजन करते हैं मांस-मछली का भक्षण करते हैं, मदिरापान करते हैं, दूसरों को धोखा देते हैं, डाका डालते हैं, और इसी प्रकार के अन्य कुत्सित कर्म करते हैं वे भी अधर्मी जीवों की ही श्रेणी में गिने जाते हैं। साधु के जो कार्य बतलाये गये हैं, उनसे एकान्त विपरीत कार्य करने वाले अधर्मी हैं। जो कहते हैं कि हमारे शास्त्र में झूठ बोलने का निषेध किया गया है, और गाय का मांस तक खा जाते हैं, जो शकर-कंद की तरह मछलियों को भर्त कर खा जाते हैं, वे अधर्म प्रति-ष्ठित जीव हैं। ठाकुरजी के दर्शन करने जाते हैं और कहते हैं कि दया धर्म का मूल है, मगर दूसरे जीव को मार कर खा जाते हैं। ऐसा करने से धर्म का मूल ही नष्ट हो गया तो धर्म कहां रहा ? दर्शन करने से क्या हुआ ? याद रक्खो, जो मछलियां वेचने का व्यापार करता है, मछलियां पकड़ने का जाल बनाता और वेचता है, और ऐसे ही हिंसाकारी अन्य कार्य करता है, वह अधर्मी जीव है। ऐसे जीव ससार में अनन्त हैं। इनका कल्याण नहीं हो सकता। वे जब इस श्रेणी में से निकल कर धर्म प्रतिष्ठित की श्रेणी में आएंगे, तभी उनका कल्याण होगा।

तीसरी श्रेणी धर्माधर्म प्रतिष्ठित की है। जो जीव कुछ हिंसा

का त्याग करते हैं और कुछ नहीं करते, कुछ सत्य बोलते हैं और कुछ असत्य भी बोलते हैं आंशिक रूप में पाप-कर्म का परित्याग करते हैं, वे इस तीसरी श्रेणी में गिने जाते हैं।

भाइयों! जो पापों को पूरी तरह या आँशिक रूप में भी त्याग नहीं करता वह बिना लगाम का घोड़ा या बिना अंकुश का हाथी है। वह स्वच्छंद होकर अधर्म का आचरण करता है। उसे आत्म कल्याण की परवाह नहीं है। अतएव मैं आपसे कहना चाहता हूँ कि यदि आप हमारी श्रेणी में नहीं आ सकते तो कम से कम श्रावक के व्रतों को ही धारण करो। इस श्रेणी में आ जाओगे तो नरक और तिर्यंच गति से छुटकारा पा जाओगे। पहली श्रेणी में तो हर्गिज मत रहो। हमारा काम आपको उपदेश करना है सो कर रहे हैं। मानना या न मानना आपका काम है।

चाहे मानो न मानो खुशी आपकी,
हम मुसाफिर यों कह कर चले जाएंगे।
खिदमते धर्म पर जो कि मर जाएंगे,
नाम दुनिया में रोशन वो कर जाएंगे॥

(इस उपदेश को सुनकर एक पति-पत्नी ने आजीवन ब्रह्मचर्य को अंगीकार किया)

हम चले जाएंगे और पीछे से पहरावनी रूप में विज्ञापन छापे जाएंगे! किन्तु हमारे विरोध में किसी को कुछ कहना हो तो सामने ही कह दें। इस समय उसका समाधान भी किया जा

सकता है। और पीठ पीछे ही कहना हो खुशी आपकी। साधु तो प्राणी मात्र पर क्षमाभाव रखता है। निन्दा करने वाले और प्रशंसा करने वाले पर साधु का समभाव होता है।

किसी ब्राह्मण के लड़के ने पानी में एक बिच्छू को देखा। लड़के को दया आ गई। उसने बिच्छू को पानी में से निकालने के लिए उसे अपनी हथेली पर ले लिया। बिच्छू ने स्वभावगत संस्कार से प्रेरित हो हथेली में डंक मार दिया। लड़के ने उसे दूसरी हथेली पर लिया तो बिच्छू ने उसमें भी डंक मार दिया। यह देख दूसरे लोगों ने उस लड़के से कहा—अरे भोले, इस शैतान को फैंक क्यों नहीं देता? यह तो स्वभाव से ही विषैला है। इसके साथ भलाई करने से क्या लाभ है?

लड़के ने कहा—जब यह डंक मारने का अपना स्वभाव नहीं छोड़ता तो मैं अपना दया करने का स्वभाव कैसे छोड़ दूँ?

इसी प्रकार साधु का धर्म दया करना और क्षमा रखना है। संसार में भांति-भांति के लोग हैं। कोई साधु का सत्कार-सन्मान करते हैं तो कोई अपनी आदत के आधीन होकर अपमान करने से भी नहीं चूकते। मगर साधु सबको एक ही समान दृष्टि से देखते हैं। 'साधु का धर्म क्या है' सुनिये—

कोईक वन्दत कोईक पूजत, कोईक भाव स भच्चन।
कोईक आप लगावत चन्दन, कोईक धूरि उड़ावे ततच्छन।
कोइ कहे ये तो मूरख दीखत, कोइ कहे ये तो वड़े विचच्छन,
'सुन्दर' काहू पै राग न रीस हो, सो सुध जानिये साधु के लच्छन॥

साधु का धर्म यही है कि वह सब पर क्षमाभाव रक्खे। जैनागम यही बात कहते हैं और दूसरे भी यही कहते हैं। कहा है: –

> सोच्चाण फरुसा भासा, दारुणा गाम कंटगा।
> तुसिणीओ उवेहेज्जा, न ताओ मणसी करे॥
> हओ न संजले भिक्खू, मणं पि न पओसए।
> तितिक्खं परमं नच्चा, भिक्खू धम्मं समायरे॥

कानों में बाण की तरह चुभने वाली, कठोर और पीड़ा जनक भाषा को सुनकर साधु चुप चाप रहे और उसकी उपेक्षा कर दे। उस भाषा को अपने मन में भी न लावे-उस पर विचार भी न करे।

कोई गालियां देकर या अपशब्द कह कर ही सन्तोष न करे और मारपीट करने लगे तो भी साधु क्रोध न करे और न अपने मन को मलीन करे। क्षमाभाव को कल्याणकारी समझ कर अपने धर्म का पालन करे।

इसी धर्म का पालन करना हमारा कर्त्तव्य है। हम जो साधुओं की निन्दा न करने की बात कहते हैं, वह इसलिए नहीं कि निन्दा से हम डरते हैं, या निन्दा को हम सहन नहीं कर सकते या निन्दा से बचना चाहते हैं। बल्कि इसलिए कहते हैं कि साधु की निन्दा करने वाला स्वयं ही पापकर्मों का बन्ध करता है। उसे पाप से बचाने के उद्देश्य से ही हमारा यह कथन है कि पीठ पीछे निंदा

सकता है। और पीठ पीछे ही कहना हो खुशी आपकी। साधु तो प्राणी मात्र पर क्षमाभाव रखता है। निन्दा करने वाले और प्रशंसा करने वाले पर साधु का समभाव होता है।

किसी ब्राह्मण के लड़के ने पानी में एक बिच्छू को देखा। लड़के को दया आ गई। उसने बिच्छू को पानी में से निकालने के लिए उसे अपनी हथेली पर ले लिया। बिच्छू ने स्वभावगत संस्कार से प्रेरित हो हथेली में डंक मार दिया। लड़के ने उसे दूसरी हथेली पर लिया तो बिच्छू ने उसमें भी डंक मार दिया। यह देख दूसरे लोगों ने उस लड़के से कहा – अरे भोले, इस शैतान को फैंक क्यों नहीं देता? यह तो स्वभाव से ही विषैला है। इसके साथ भलाई करने से क्या लाभ है?

लड़के ने कहा—जब यह डंक मारने का अपना स्वभाव नहीं छोड़ता तो मैं अपना दया करने का स्वभाव कैसे छोड़ दूँ?

इसी प्रकार साधु का धर्म दया करना और क्षमा रखना है। संसार में भांति-भांति के लोग हैं। कोई साधु का सत्कार-सन्मान करते हैं तो कोई अपनी आदत के आधीन होकर अपमान करने से भी नहीं चूकते। मगर साधु सबको एक ही समान दृष्टि से देखते हैं। 'साधु का धर्म क्या है' सुनिये—

कोईक वन्दत कोईक पूजत, कोईक भाव स भच्चत.
कोईक आप लगावत चन्दन, कोईक धूरि उड़ावे ततच्छन।
कोइ कहे ये तो मूरख दीखत, कोइ कहे ये तो वड़े विचच्छन,
'सुन्दर' काहू पै राग न रीस हो, सो सुध जानिये साधु के लच्छन॥

साधु का धर्म यही है कि वह सब पर क्षमाभाव रक्खे । जैनागम यही बात कहते हैं और दूसरे भी यही कहते हैं । कहा है: –

सौच्चाण फरुसा भासा, दारुणा गाम कंटगा ।
तुसिणीओ उवेहेज्जा, न ताओ मणसी करे ।।
हओ न संजले भिक्खू, मणं पि न पओसए ।
तितिक्खं परमं नच्चा, भिक्खू धम्मं समायरे ।।

कानों में बाण की तरह चुभने वाली, कठोर और पीड़ा जनक भाषा को सुनकर साधु चुप चाप रहे और उसकी उपेक्षा कर दे । उस भाषा को अपने मन में भी न लावे-उस पर विचार भी न करे ।

कोई गालियां देकर या अपशब्द कह कर ही सन्तोष न करे और मारपीट करने लगे तो भी साधु क्रोध न करे और न अपने मन को मलीन करे । क्षमाभाव को कल्याणकारी समझ कर अपने धर्म का पालन करे ।

इसी धर्म का पालन करना हमारा कर्त्तव्य है । हम जो साधुओं की निन्दा न करने की बात कहते हैं, वह इसलिए नहीं कि निन्दा से हम डरते हैं, या निन्दा को हम सहन नहीं कर सकते या निन्दा से बचना चाहते हैं । बल्कि इसलिए कहते हैं कि साधु की निन्दा करने वाला व्यर्थ ही पापकर्मों का बन्ध करता है । उसे पाप से बचाने के उद्देश्य से ही हमारा यह कथन है कि पीठ पीछे निंदा

करने से कुछ लाभ नहीं है। अगर कोई त्रुटि किसी साधु में देखो तो कहो अवश्य, परन्तु सद्भावना से कहो। उसके सामने कहो या उसके गुरु के सामने कहो। यह अच्छा नहीं कि सामने कुछ न बोलो और बाजार में ढिंढोरा पीटते फिरो। इससे जिसकी निन्दा करते हो, उसका तो कुछ बिगाड़ नहीं होगा और निन्दा करने वाले की आत्मा का ही अधःपतन होगा। इसलिए हे भाइयों ! आप से बन सके तो किसी के गुण ग्रहण करो और न बन सके तो चुपचाप रहो। किन्तु पाप मत करो। यह मनुष्य-जन्म और यह व्यक्त भाषा बार-बार मिलने वाली नहीं है। हम तो सत्य बात कहते हैं, मानना अथवा न मानना आपकी इच्छा पर निर्भर है।

सत्य धर्म यह सब को सुनाये जाएंगे ॥ टेर ॥
मानो न मानो मर्जी तुम्हारो,
हम अपना फर्ज बजाये जाएंगे ॥

हो सकता है कि कोई बात हमारी समझ से सत्य हो और दूसरा अपने दृष्टिकोण से उसे असत्य समझता हो। ऐसी स्थिति में यही उचित हो सकता है कि या तो वह अपने दृष्टिकोण की सत्यता हमें समझा दे या हमारे दृष्टिकोण को आप समझ ले। मगर दृष्टिकोण की विभिन्नता को आधार बना कर विरोध की कल्पना कर लेना और फिर बुराई-भलाई करते फिरना न सभ्यता है, न शिष्टता है। यह बात हमारे लिए ही न समझें, वरन् व्यापक रूप में सभी के लिए समझनी चाहिए।

बहुत-से भाई श्रीसंघ में फूट डालने का प्रयास करते हैं। उन्हें सचेत और सावधान हो जाना चाहिए। संघ में अनैक्य उत्पन्न करना, अशान्ति पैदा करना घोर पाप है। ऐसा करने वाला व्यक्ति सत्तर कोड़ा कोड़ी सागरोपम की स्थिति वाला मोहनीय कर्म बांधता है। उसे अपने पापों का जन्म-जन्मान्तर में फल भोगना पड़ेगा। भाई! चक्रवर्ती की भी शेखी धूल में मिल गई तो तू क्या चीज है? जिसने गुरु का कहना नहीं माना वह चक्रवर्ती भी (ब्रह्मदत्त) सातवें नरक में गया। उसके पास दुनियां की सर्वोत्कृष्ट विभूति थी, किन्तु वह उसे बचा नहीं सकी। इसलिए मेरा कहना मानो कि श्रीसंघ में फूट न डालना। समस्त श्रीसंघ को परस्पर में प्रेम पूर्वक रह कर अपने धर्म की आराधना करनी चाहिए।

हम ज्ञान की झड़ियां लगाए जाएंगे,
ऊगे न ऊगे भूमि धर्म है॥

भाई! पानी का काम बरसने का है। जमीन अच्छी होगी तो अंकुर निकल आएंगे और ऊसर होगी तो ज्यों की त्यों रहेगी। उपदेश के सम्बन्ध में भी यही बात है। उपदेश किसके लिए है:—

लगे ताल झंकार लगे तेवल के टांची,
लगे सिंह के बोल, लगे सायर के सांची।
लगे सूर्य का ताप, लगे चंदा की ठारी,
लगे वृक्ष के फूल, लगे प्रीतम को प्यारी॥

लगत-लगत फल वो लगे, उस फल को पंछी चुगे।
बैताल कहे विक्रम सुनो, जो मूरख नर के क्या लगे ?॥

भाई ! उत्तम जीव को धर्म की बात रुचिकर होती है। जो कोई धर्म की बात मानेगा, उसका कल्याण होगा। हमारा काम सुनाना है और सुनाने में हम कोई पक्षपात नहीं करते। सब को समान भाव से सुनाते हैं। मानना न मानना श्रोताओं की मर्जी पर है। मगर इतना फिर भी कहना है कि मैं जो कुछ भी कहता हूँ, अपने मन की बात नहीं कहता। मैं तो वीतराग भगवान् के उपदेशों को ही दोहराता हूँ। भाषा मेरी है और मूल भाव ज्ञानियों के हैं। ज्ञानियों के उपदेश को मानने से आपका अक्षय कल्याण होगा और भविष्य में आपके लिए आनन्द ही आनन्द होगा।

भविष्यदत्त चरित:—

देखो, भविष्यदत्त के चरित पर आदि से लेकर अन्त तक दृष्टिपात करो। उसने पुण्य का उपार्जन किया था तो आगामी जीवन में उसे सब प्रकार की सुख--सामग्री प्राप्त हुई। मगर क्या भविष्यदत्त किसी भी जन्म में उस सुख-सामग्री में लिप्त होकर अपने शाश्वत कल्याण को भूला ? नहीं। जब उसे उपदेश श्रवण करने का अवसर मिला तभी उसके चित्त में वैराग्य की तरंगें उठने लगीं और उसने प्राप्त राज्य को तृण की तरह त्याग दिया। इस प्रकार वह अपनी आत्मा को क्रमशः निर्मल बनाता चला गया और अन्त में परम कल्याणमयी सिद्धि का स्वामी बना।

भाइयों ! आप जो पुण्य रूप पूंजी लेकर आये हैं, इसे धर्माचरण करके बढ़ाइए। यही भविष्यदत्त चरित सुनने की सार्थकता है ।

भविष्यदत्त चरित की प्रशस्ति *

संवत हजार दो तीन साल के माहीं,
महाराज उदयपुर चल कर आयाजी ।
जब महाराणा भूपालसिंह अगता पलवायाजी ।।
जब पोष सुदी एकम थी आनन्दकारी,
महाराज सघ ने हर्ष वधायाजो ।
फिर वहाँ से चल कर गांव उठाले आया,
महाराज हुआ उपकार सवायाजी ।
इतने में तो महाराणा का संदेशा आयाजी ।।
पन्द्रह ठाणौ से नाहर मगरे आया;
महाराज भूप को ज्ञान सुनायाजी ।
जितने भी दिन वहाँ रहे जीववध बंद रखायाजी ।।
गुरु हीरालाल प्रसाद चौथमल गाया,
महाराज पुण्य से सुख प्रकटायाजी ।।

दोहाः—

भविष्यदत्त का चरित यह, सुने सुनावे कोय ।
सुख-सम्पति पावे सही, आनन्द मंगल होय ।।

---

* यह प्रशस्ति जैन दिवाकरजी द्वारा रचित पद्यमय भविष्यदत्त चरित से उद्धृत की गई है ।

२१-११-४८ }

स्तेय का साम्राज्य

स्तुतिः—

श्च्योतन्मदाविलविलोलकपोलमूल—
मत्तभ्रमद्भ्रमरनादविवृद्धकोपम्
ऐरावताभमिभमुद्धतमापतन्तम्,
दृष्ट्वा भयं भवति नो भवदाश्रितानाम् ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं कि—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन् ! आपकी कहाँ तक स्तुति की जाय ? हे प्रभो ! आपके कहां तक गुण गाये जाएँ ?

आचार्य महाराज ने प्रभु आदिनाथ की महिमा को प्रकट करने के लिए भगवद् भक्तों की महिमा यहां प्रदर्शित की है। जब

भगवान् की भक्ति करने वालों की महिमा भी असाधारण और आश्चर्यजनक हो तो उनकी भक्ति के पात्र भगवान् की महिमा का तो कहना ही क्या है ? जिसके मुनीम और सेवक का ऐश्वर्य विपुल हो, उस सेठ के ऐश्वर्य की बात ही निराली होगी। इसी अभिप्राय से यह पद्य रचा गया है।

इस पद्य में बतलाया गया है कि—झरते हुए मद से जिसके कपोल अर्थात् गण्डस्थल मलीन और चंचल हो रहे हैं और मद-माते भौंरे उन गण्डस्थलों पर आ-आ कर जिसका क्रोध बढ़ा रहे हैं, ऐसे ऐरावत हाथी के समान, निरंकुश हाथी को सामने आता देख करके भी हे प्रभो ! आपके भक्तों को भय नहीं होता।

बंदर चंचल होता है, तिस पर यदि उसे मदिरा पिला दी जाय तब तो कहना ही क्या है ? और फिर कदाचित् उसे विच्छू ने भी डँस लिया हो तब तो पूछना ही क्या है ? ऐसी स्थिति में बन्दर की चंचलता उग्रतम रूप धारण कर लेती है। इसी प्रकार प्रथम तो हाथी अपने बड़े डीलडौल के कारण स्वभाव से ही भयंकर प्रतीत होता है, तिस पर वह जब मदोन्मत्त होता है तब कहना ही क्या है ? तिस पर भी जब भौंरे आ-आकर उसे परे-शान करते हैं और वह क्रुद्ध हो जाता है, तब तो पूछना ही क्या है ? ऐसी स्थिति में तो यही प्रतीत होता है कि यह हाथी नहीं, साक्षात् यम है, मौत की विकराल मूर्त्ति है ! ऐसा भयंकर हाथी भी अगर सामने भागता आ रहा हो तो भी भगवान् के भक्तों को भय नहीं लगता।

सोचना चाहिए कि भगवद्भक्तों में इस प्रकार की

आश्चर्यजनक निर्भयता किस प्रकार आ जाती है ? इसका असंदिग्ध कारण तो कोई पहुँचा हुआ महान् भक्त ही बतला सकता है, किन्तु हमें भी अपनी बुद्धि के अनुसार सोचने का अधिकार है। अतएव हम भी इस संबन्ध में अपने विचार प्रदर्शित करते हैं।

सच्चा भक्त वही है जिसने आत्मा के सच्चे स्वरूप को समझ लिया हो, जिसको आत्मा के स्वरूप की सच्ची झलक मिल गई हो और जिसने परमात्मा के साथ अपनी आत्मा का तादात्म्य स्थापित कर लिया हो। जिस भक्त ने यह उच्च स्थिति प्राप्त कर ली हो, वह बहिरात्मा नहीं हो सकता। वह शरीर को ही आत्मा नहीं मानेगा। वह आत्मा को अजर, अमर, अविनाशी अनुभव करेगा और चिदानन्द स्वरूप समझेगा तथा शरीर को विनाशशील, पुद्गलपिण्ड और आत्मा से पृथक् मानेगा। इस प्रकार जिसकी आत्मा एवं शरीर के पृथक्त्व की श्रद्धा सजीव और सक्रिय होगी, वह शरीर के बिगाड़ से आत्मा में कोई बिगाड़ नहीं समझेगा। पुद्गलपिण्ड के मग्न हो जाने पर भी उसे चिन्ता नहीं होगी। वह मृत्युञ्जयी हो जायगा। शरीर रहे तो क्या और न रहे तो क्या, दोनों अवस्थाओं में वह समभाव में स्थित रहेगा। मृत्यु उसके लिये भयजनक नहीं और जीवन उसके लिए मोहजनक नहीं होगा। ऐसी देहातीत दशा प्राप्त हो जाने पर साक्षात् यमराज भी उसे भयभीत नहीं कर सकता तो बेचारा गजराज उसे भयभीत कैसे कर सकता है ?

इस सम्बन्ध में विचार करने की एक दूसरी दिशा भी है। अध्यात्मवेत्ताओं का अनुभव और कथन है कि वैर से वैर की

वृद्धि होती है। जो व्यक्ति वैर भावना को पूरी तरह विजित कर चुका है, जिसका अन्तःकरण निर्वैर बन गया है, वह अपने आध्यात्मिक प्रभाव से वैरवान को भी उपशान्त कर देता है। 'अहिंसाप्रतिष्ठायाम् तत्सन्निधौ वैरत्यागः' अर्थात् अहिंसा की उच्च भूमिका पर पहुँचे हुए महापुरुष के आसपास रहने वाले प्राणी भी वैर को भूल जाते हैं।

भगभद्भक्त निर्वैर होता है। निर्वैर होने के कारण हिंसक की क्रूरता उसके सामने परास्त हो जाती है। ऐसी स्थिति में अगर भक्तजन के समक्ष क्रुद्ध हाथी भी निर्वैर बन जाय तो क्या आश्चर्य है? अपनी इस श्रद्धा के कारण भी भक्तजन हाथी के सामने आने पर भी भयभीत नहीं होते। वे जानते हैं कि हमारे हृदय में हिंसक भावना का लेश भी नहीं है तो हाथी हमें कोई हानि नहीं पहुंचा सकता।

जिनके भक्तों की इस प्रकार विस्मयजनक शक्ति है, उन भगवान् की शक्ति के विषय में क्या कहा जाय?

ऐसे मदोन्मत्त पागल हाथी को वश में करने की शक्ति किसी में नहीं है। परन्तु हे आदिदेव! आपके नाम में वह ताकत है कि उसका स्मरण करने मात्र से मदोन्मत्त मोह रूपी हाथी भी क्षण भर में वशीभूत हो जाता है। मोह रूपी हाथी बड़ा विषम होता है।

पुनरपि जननं पुनरपि मरणं,
पुनरपि जननी–जठरे शयनम्॥

बार-बार जन्म धारण करना, बार-बार मृत्यु का शिकार होना और बार-बार माता के पेट में पड़ना मोह रूपी मतंगज का ही प्रताप है। किन्तु भगवान् की भक्ति उसे अनायास ही पराजित कर देती है।

भगवान् ने मोह रूपी हाथी को वश में करने के लिए उपाय बतलाया है-एक अंकुश बतलाया है और वह अंकुश है—संवर।

संवर के पाँच भेद हैं– (१) अहिंसा (२) सत्य (३) अचौर्य (४) ब्रह्मचर्य और (५) अपरिग्रह।

अहिंसा धर्म का मूल है और जैनधर्म का प्राण है। इसके विषय में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में प्रतिदिन ही कुछ न कुछ कहा जाता है। सत्य की महिमा भी अपरिमित है। सत्य का इतना महत्त्व है कि उसके अभाव में अन्य व्रतों के अस्तित्व पर प्रतीति ही नहीं की जा सकती। जो असत्य का परित्याग नहीं करता और कहता है कि मैं अन्य समस्त व्रतों को अंगीकार करता हूं, उसके इस अङ्गीकार पर कौन विश्वास करेगा? प्रश्नव्याकरण सूत्र में सत्य की बड़े ही प्रभावशाली शब्दों में प्ररूपणा और प्रशंसा की गई है। वास्तव में असत्य इतना भारी होता है कि उसके भार से आत्मा संसार-सागर में डूब जाता है।

भगवतीसूत्र में गौतम स्वामी के अनेक प्रश्नों का उल्लेख है। उसमें से एक प्रश्न है—भगवन् आत्मा भारी कैसे होती है?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान ने फर्माया—हिंसा, झूठ, चोरी आदि से आत्मा भारी होकर संसार-सागर में गोते खाती

और डूबती है। आज चोरी के सम्बन्ध में विशेष प्रकाश डालने की इच्छा है।

प्रश्नव्याकरणसूत्र में भगवान ने चोरी को महापाप बतलाया है। अदत्तादानं स्तेयम्' अर्थात् अदत्त—बिना दिया कोई भी पदार्थ, आदान करना—ग्रहण करना या ले लेना चोरी है।

जो व्यक्ति कपड़ा, छतरी, जूता आदि किसी भी वस्तु को चुराता है अथवा चुराने की भावना रखता है, वह चोर है, दूसरों की धन-दौलत को चुराने वाला तो लोक में चोर कहलाता ही है, पर धर्मशास्त्र तो बहुत बारीकी में उतर कर वर्त्तन करते हैं। अतएव रास्ते में पड़ा हुआ कंकर और दांत खुजाने के लिए तिनका भी, अगर उसके स्वामी की अनुमति लिये बिना ग्रहण किया गया है तो उसे भी चोरी में परिगणित करते हैं। भले ही लोक में यह चोरी नहीं समझी जाती और इसीलिए नीति की दृष्टि से वह हेय भी नहीं समझी जाती, परन्तु धर्मशास्त्र के कानून उसे भी चोरी कहते हैं। यही कारण है कि अचौर्य महाव्रत का पालन करने वाले मुनिजन ऐसी तुच्छ वस्तुएँ भी अनुमति के अभाव में ग्रहण नहीं करते हैं। अलबत्ता, अचौर्य अणुव्रत के पालन की ही प्रतिज्ञा लेने वाले श्रावकों को ऐसी सूक्ष्म चोरी, जो लोक में चोरी नहीं कहलाती और जिसे शासन दण्डनीय नहीं समझता, त्यागना अनिवार्य नहीं बतलाया गया है। परन्तु मुनियों के लिए वह भी त्याज्य है।

चोरी करना पाप क्यों है? इस सम्बन्ध में कहा गया है कि धन अपने स्वामी को प्राणों के समान प्रिय होता है। उस धन को

अनुचित तरीके से जो हरण करता है, एक प्रकार से वह उसके प्राणों का ही हरण करता है। अतएव चोरी पाप में गिना गया है।

चोरी करने से, जिसके धन की चोरी की गई है, उसी को कष्ट होता हो सो बात नहीं है। चोरी करने वाला स्वयं भी कष्ट का भागी होता है। चोरी राजकीय कानून से वर्जित है और वर्जित होनी चाहिए। अन्यथा मानव समाज में लूटमार आदि का ऐसा दौर शुरु हो जाय कि क्षण भर भी कोई शान्ति से न बैठ सके। अतएव चोरी करने वाला जब पकड़ा जाता है तो सरकार उसे दण्ड देती है। प्राचीन काल में तो चोर के हाथ-पैर काट लिये जाते थे। आजकल यह दण्ड नहीं दिया जाता, फिर भी कारागार का दण्ड तो दिया ही जाता है।

मान लीजिए कि चोरी करने वाला पकड़ा न जा सका और बच गया तो भी क्या उसकी दुर्दशा नहीं होती ? परलोक की बात जाने भी दीजिए और इसी जीवन पर विचार कीजिए तो भी प्रतीत होगा कि चोर की आत्मा को क्षण भर भी शान्ति नहीं मिलती। उसके सिर पर पकड़े जाने के भय का भूत सदा सवार रहता है। उसका चित्त पल--पल आकुल--व्याकुल बना रहता है। इस प्रकार चोरी करना बुरी बात है।

चोरी करने वाले के हृदय में करुणा का वास नहीं होता। चोर इस बात का खयाल ही नहीं करता कि जिसके धन का अपहरण किया जायगा, उसे कितनी मार्मिक व्यथा होगी, उसके दिल में कैसी तड़फन होगी! इस बात की कल्पना उसे तभी आ

सकती है जब चोरी के द्वारा संग्रह किया हुआ चोर का धन चोरी चला जाय ! वास्तव में जिसकी चोरी होती है उसके दुःख का पार नहीं रहता। हमने ऐसे लोग भी देखे हैं जो द्रव्य हरण हो जाने के कारण पागल बन गये हैं !

प्रश्नव्याकरणसूत्र में अठारह प्रकार के चोर बतलाये गये हैं। अर्थात् चोरी करने वाला चोर है, चोरी का माल लेने या खरीदने वाला चोर है, और चोर से चोरी कराने के लिये उसे भोजन पानी, वस्त्र या मकान आदि की सुविधा देने वाला भी चोर है। चोर को चोरी का साधन, जैसे रस्सा, बन्दूक, तलवार या कोई अन्य वस्तु देकर उसकी सहायता करने वाला चोर है और चोर के निशान मिटाने वाला भी चोर है।

रात्रि में चोर चोरी करके जिस रास्ते से निकलता है, प्रातः काल होते ही उसके सहायक या हितैषी, उसके पैरों के निशान मिटाने के अभिप्राय से, उस रास्ते से जानवरों को ले जाते हैं। जानवरों के पैरों के निशानों के कारण चोर के पैर के निशान मिट जाते हैं।

जो व्यक्ति अपने जीवन को प्रामाणिकता के साथ, नीति के अनुकूल व्यतीत करना चाहता है, उसे चोरी के इन सब भेदों से बचना चाहिए।

अदत्तादान के पाँच भेद हैं—(१) राज अदत्त (२) देव-अदत्त (३) गुरु-अदत्त (४) साधर्मिक-अदत्त और (५) गाथापति-अदत्त।

(१) राज अदत्त—जो लोग राज्य के आदेश का पालन

भगवान् ने तो घास का एक तिनका बिना आज्ञा उठाना भी चोरी में परिगणित किया है।

शंका—अगर आपको (साधु को) आवश्यकता पड़ जाय तो आप क्या करें?

समाधान—एक बार भगवान् महावीर से शक्रेन्द्र देवराज ने प्रश्न किया—प्रभो! देवों की वह कौन-सी वस्तु है जो मुनियों के उपयोग में आ सके? तब भगवान् ने फर्माया-शक्रेन्द्र! तुम दक्षिण भरत के अधिपति हो। अतः तुम्हारे देश की वस्तुओं की कभी-कभी आवश्यकता पड़ती है। भगवान् का यह कथन सुन कर शक्रेन्द्र ने कहा—'प्रभो! साधुओं को मेरी सदा ही आज्ञा है।'

हम देखते हैं—घर की मालकिन कहीं मकड़ी बनती है तो कहीं चूहा मालिक बनता है। कहीं कुत्ता तो कहीं बिल्ली स्वामित्व का दावा करती है। कहीं राजा मालिक बनता है तो कहीं भंगी मालिक बनता है। लेकिन देखना चाहिए कि वस्तुतः मालिक कौन है। वास्तव में देखा जाय तो शक्रेन्द्र मालिक है। यह कोई किस्सा कहानी की बातें नहीं है। यह भगवतीसूत्र की बातें हैं। फिर भी लोक-व्यवहार का अनुसरण करके ही साधु प्रवृत्ति करते हैं और ऐसा ही करना उचित भी है।

कोई भी दो व्यक्ति गुप्त बातें कर रहे हों और तीसरा उन्हें सुनने का प्रयत्न करे और सुने तो यह भी चोरी है।

कोई आदमी अपने वस्त्रों में इत्र लगा कर आया और

उसकी जानकारी के बिना काम होता रहे तो घर की व्यवस्था में गड़बड़ मच जाती है।

इसी प्रकार जाति की भी मर्यादाएँ बंधी रहती हैं। जो लोग चोरी से छिप-छिप कर मांस भक्षण करते हैं, मदिरापान करते हैं या वेश्यागमन आदि निषिद्ध कर्म करते हैं, क्या वे चोर की श्रेणी में नहीं हैं? निस्सन्देह वे अपनी जाति के चोर ही कहलाते हैं। याद रखना चाहिए कि चोरी के सम्बन्ध में जो उपदेश दिया जा रहा है, वह एकदेशीय नहीं है। वह तो साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका के लिए समान रूप से लागू होता है।

(४) साधर्मी–अदत्त साधर्मी की आज्ञा के बिना उनकी किसी वस्तु को लेना, अर्थात् पूंजनी, नवकारवाली, पुस्तक, आसन आदि को बिना आज्ञा प्राप्त किये उठा लेना भी अदत्ता-दान में गिना है।

(५) गाथापति अदत्त–मालिक की आज्ञा के बिना किसी वस्तु को लेना गाथापति--अदत्तादान कहलाता है।

आप पानी पीते हैं। पानी में असंख्य जीव हैं। क्या आपने पानी के उन जीवों से आज्ञा प्राप्त कर ली है? यदि नहीं, तो क्या यह चोरी नहीं समझी जानी चाहिए? इसी प्रकार आप गाय, भैंस, या बकरी का दूध दुहते हैं। क्या आप उनसे अनुमति लेकर उनका दूध दुहते हैं? नहीं। तो फिर यह भी चोरी क्यों नहीं है? भाइयों! यह भी एक प्रकार की चोरी ही है। किन्तु बहुत से निर्दय बकरे और भैंसे को मार कर उनका माँस खा जाते हैं। ऐसा करने वाले हिंसा, झूठ और चोरी-सभी पापों के भागी होते हैं

भगवान् ने तो घास का एक तिनका बिना आज्ञा उठाना भी चोरी में परिगणित किया है।

शंका—अगर आपको (साधु को) आवश्यकता पड़ जाय तो आप क्या करें?

समाधान—एक बार भगवान् महावीर से शक्रेन्द्र देवराज ने प्रश्न किया—प्रभो! देवों की वह कौन-सी वस्तु है जो मुनियों के उपयोग में आ सके? तब भगवान् ने फर्माया-शक्रेन्द्र! तुम दक्षिण भरत के अधिपति हो। अतः तुम्हारे देश की वस्तुओं की कभी-कभी आवश्यकता पड़ती है। भगवान् का यह कथन सुन कर शक्रेन्द्र ने कहा—'प्रभो! साधुओं को मेरी सदा ही आज्ञा है।'

हम देखते हैं–घर की मालकिन कहीं मकड़ी बनती है तो कहीं चूहा मालिक बनता है। कहीं कुत्ता तो कहीं बिल्ली स्वामित्व का दावा करती है। कहीं राजा मालिक बनता है तो कहीं भंगी मालिक बनता है। लेकिन देखना चाहिए कि वस्तुतः मालिक कौन है। वास्तव में देखा जाय तो शक्रेन्द्र मालिक है। यह कोई किस्सा कहानी की बातें नहीं है। यह भगवतीसूत्र की बातें हैं। फिर भी लोक-व्यवहार का अनुसरण करके ही साधु प्रवृत्ति करते हैं और ऐसा ही करना उचित भी है।

कोई भी दो व्यक्ति गुप्त बातें कर रहे हों और तीसरा उन्हें सुनने का प्रयत्न करे और सुने तो यह भी चोरी है।

कोई आदमी अपने वस्त्रों में इत्र लगा कर आया और

आपने इत्र की उस सुगन्ध को खींच-खींच कर सूंघना शुरू किया। तो बतलाओ क्या यह भी चोरी नहीं है ? क्या आपने उससे इत्र सूंघने की आज्ञा ले ली थी ? अगर नहीं ली तो इसे चोरी क्यों न कहा जाय ?

साफ नीयत नहीं रहे तू, चोरी करना छोड़ दे।
मान ले नसीहत मेरी तू चोरी करना छोड़ दे॥

दुनिया में इज्जत की कीमत है। अगर तुम अपनी इज्जत रखना चाहते हो तो चोरी करना छोड़ दो। छोटी या बड़ी, कोई भी चोरी मत करो।

किसी का जेवर देख कर चोर की यह नीयत होती है कि कब यह इस जेवर को सूना छोड़े और कब मेरे हाथ लगे। चोर सदैव इधर-उधर ताक लगाता फिरता है। उसका संकल्प यह रहता है कि कैसे पराये माल पर हाथ साफ करूँ ? किस प्रकार दूसरे की आँखों में धूल झौंकूं ?

मगर जिसे लोग चोर के रूप में पहचान जाते हैं, उसकी प्रतीति उठ जाती है। उसकी आबरू तीन कौड़ी की हो जाती है। अतएव जो अपनी और अपने पूर्वजों की इज्जत घटाना न चाहता हो उसे चोरी से दूर ही रहना चाहिए।

चोर की निगाह चील के समान होती है। जैसे चील माँस के टुकड़े की तरफ ताक लगाये रहती है, उसी प्रकार चोर चुराई जाने वाली चीज की तरफ ताक लगाये रहता है। वह अपनी भावना से और अपनी लोलुप दृष्टि से भी पाप का उपार्जन करता

रहता है। बस, उसकी एक ही चिन्ता रहती है कि कब निगाह चूके और कब हाथ साफ करें !

यद्यपि चोर छिपकर चोरी करता है और चुराये हुए माल को भी छिपाने के लिए बड़ी सावधानी रखता है, मगर कहावत है-'सौ बार चोर की तो एक बार शाह की !' कभी न कभी ऐसा अवसर आ ही जाता है कि वह पुलिस के फँदे में फँस जाता है और पकड़ा जाता है। पहले तो वह चोरी करना स्वीकार नहीं करता, मगर पुलिस के देवता भी कच्चे नहीं होते। जब कोड़ों की फटकार पड़ती है और बेतों से चमड़ी उधड़ने लगती है, तो छठी का दूध याद आ जाता है। सब खाया-पिया निकल जाता है। आखिर चोरी स्वीकार करनी पड़ती है और दारुण दुर्दशा के साथ जेल में जिंदगी पार करनी पड़ती है।

संसार में चोरी के इतने अधिक रूप प्रचलित हो गये हैं कि उन सब की गिनती करना भी कठिन है। कई लोग महसूल की चोरी करते हैं और आश्चर्य तो यह है कि ऐसी चोरी करने वालों में कई इज्जतदार लोग भी सम्मिलित होते हैं।

कहां तक कहा जाय ? प्रजा की नैतिकता की रक्षा करना और वृद्धि करना जिन राज्याधिकारियों का कर्त्तव्य है, आज वे भी रिश्वत के रूप में चोरी के शिकार हो रहे हैं। यद्यपि रिश्वत-खोरी पहले से ही चली आ रही है तथापि पिछले कुछ दिनों से तो उसमें बहुत वृद्धि हुई है भले ही लोग स्वार्थ के वशीभूत होकर रिश्वत को चोरी में न गिनें, मगर वास्तव में वह जघन्य श्रेणी की चोरी ही है। यह चोरी मनुष्य को अपने कर्त्तव्य से विमुख करने वाली

और आत्मा का पतन करने वाली है। इससे प्रजा को भी अत्यन्त कष्ट होता है और उसमें अनैतिकता बढ़ती है।

कई व्यापारी लोग पचासों तरह से चोरी करते हैं। कोई कपड़ा नापते समय गज सरका कर या हाथ सरका कर कपड़ा कम नाप देते हैं। कोई गज ही छोटा रखते हैं। कोई नापने और तोलने के बांट छोटे-बड़े रखते हैं। कई लोग तो माल लेते समय बाँटों में मोम भी लगाये रखते हैं! धड़ा करने में चोरी, माल लेने में चोरी, माल देने में चोरी! जहां देखो वहीं चोरी का साम्राज्य फैला हुआ है!

एक व्यापारी ने घी लेने के लिए कांटे का धड़ा करना चाहा। सेठानी ने सोचा धड़ा करते समय बांटों वगैरह में यह चालाकी कर लिया करते हैं। आज एक तरफ बकरी का बच्चा बिठला दें, फिर देखें कैसे चालाकी करते हैं!

काँटे के पलड़े पर रखते ही बकरी का बच्चा उछल-कूद करने लगा। सेठ ने दिखावे के तौर पर उसे रोकने की चेष्टा की, पर मन से नहीं की और उसे भाग जाने दिया। सेठ उसे पकड़ कर लाने के लिए भीतर गया और उसे पानी और फिर दूध पिला कर बाहर ले आया। इसके बाद उसने घी तोल कर ले लिया! इस प्रकार जितना पानी और दूध उस बकरी के बच्चे को पिलाया था, उसके तौल का घी उसने ले लिया। यह हैं चोरी करने के ढंग!

आज रिश्वत का बाजार गर्म है। रेल, मोटर, कस्टम और अदालत आदि में सर्वत्र रिश्वत ही से काम होता है। रिश्वत के बिना शायद किसी का काम नहीं चलता। ग्वालियर के माधव

महाराज ने तो एक बार कहा था कि मेरी अदालत का ताला चांदी की चाबी से खुलता है ! आज पुलिस का महकमा रिश्वत के लिए कितना बदनाम है, यह बात तो मेरी अपेक्षा आप शायद ज्यादा जानते होंगे।

एक हाकिम साहब, जो जज के पद पर नियुक्त थे, दो आने की भी रिश्वत नहीं छोड़ते थे। उनकी अदालत में एक गरीब किन्तु चालाक आदमी का कोई मामला पेश हुआ। मामला लम्बे समय तक खटाई में पड़ा रहा। बीच-बीच में वह गरीब कई बार जज साहब के पास पहुँचा। उसने आजीजी करके कहा—'दयानिधान ! मैं गरीब आदमी हूँ। मुझ पर दया कीजिए। मेरा काम कर दीजिए।'

कसाई को कदाचित् दया आ सकती है, मगर घूंसखोर हाकिम को दया आना कठिन है। उसने गरीब को रुखाई के साथ दुत्कार दिया और कहा—खबरदार जो फिर यहाँ आया !

लोगों ने सुना तो उस गरीब को सलाह दी—क्यों व्यर्थ पैर तोड़ता है। वह ऐसा जालिम हाकिम है कि रिश्वत लिये बिना अपने बाप का भी काम नहीं बनाता। वह ऐसा भैरूँ नहीं जो बिना धूप के प्रसन्न हो जाय ! काम बनाना है तो कहीं से कुछ प्रबंध कर।

गरीब था, फिर भी उसने आठ आने का बढ़िया केसर डाला हुआ आम का मुरब्बा बाजार से खरीदा। फिर एक घड़े में गले तक गाढ़ा गोबर भर दिया और उसके ऊपर मुरब्बा रख

दिया। इसके बाद उसने घड़े को ढक्कन से ढँक कर उसका मुँह बाँध दिया। फिर वह हाकिम साहब के घर ले चला।

घर के दरवाजे पर पहुँचा तो सिपाही ने रोक दिया, परन्तु जब उसे मालूम हुआ कि मुरब्बे का घड़ा है तो उसने भीतर चले जाने की अनुमति दे दी। हाकिम को पता चला तो मन ही मन बोला—'साला छह महीने के बाद आज माल लेकर आया है। कंजूस कहीं का?' जब हाकिम को पता चला कि इसमें मुरब्बा है तो बहुत खुश हुआ। अपनी खुशी को भीतर ही भीतर दबा कर बोला-तुम्हारी मिसल पड़ी है न? गरीब ने उत्तर दिया—'हाँ हजूर।'

हाकिम—अच्छा तो आज कचहरी में जल्दी आ जाना।

गरीब जो आज्ञा।

अदालत का समय होने से पहले ही गरीब जा धमका। हाकिम ने आते ही चट हस्ताक्षर कर दिये। गरीब का काम बन गया। वह प्रसन्न होता हुआ घर लौटा और तान दुपट्टा सो गया।

हाकिम साहब के मुँह पर मुरब्बा लग गया। सुबह-शाम मुरब्बा खाने लगे। तीन दिन बाद बीबी साहिबा ने कहा—नीचे तो गाढ़ा-गाढ़ा न जाने क्या भरा है? चम्मच डाल कर जो निकाला तो देखा कि यह तो गोबर है! आखिर वह घड़ा फिकवा दिया गया।

सन्ध्या-समय हाकिम साहब घोड़े पर सवार होकर हवा खाने निकले। उस गरीब की दुकान रास्ते में ही पड़ती थी।

भावना का स्तर ऊँचा उठना चाहिए । इसके बिना धर्म का विकास नहीं हो सकता ।

समाज में नैतिकता का प्रचार करने के लिए सर्वप्रथम बड़े-बूढ़े लोगों को नीतिपरायण बनने की आवश्यकता है। बड़े-बूढ़े नीति और धर्म के अनुकूल चलेंगे तो उनकी सन्तति में भी वही विशेषता उत्पन्न हो जायगी। परन्तु आज तो उल्टी गंगा बहती देखी है। माँ—बाप स्वयं अपने बच्चे को बेईमानी और चोरी सिखलाते हैं !

एक बार एक लड़का चार आम चुरा कर अपनी माता के पास लाया। माता ने लड़के से पूछा—आम कहां से लाये हो ? लड़के ने कहा—कूंजड़ी दूसरी तरफ देख रही थी और मैं उसके टोकरे में से सफाई से उठा लाया। यह उत्तर सुनकर माँ ने सोचा - चलो ठीक हुआ। चार पैसे का लाभ ही हुआ !

धीरे-धीरे लड़के की आदत बिगड़ती गई और कुछ दिनों में वह एक नामी चोर हो गया। एक बार चोरी करते हुए वह पकड़ा गया। अदालत में मुकदमा चला और पाँच वर्ष की कैद की सजा मिली ।

माता का हृदय अधीर हो उठा। आखिर तो माँ ठहरी न ! सन्तान के प्रति माता के हृदय में नैसर्गिक वात्सल्य का प्रबल भाव विद्यमान रहता ही है। उससे प्रेरित होकर वह अपने लड़के से मिलने के लिए जेल पर गई। जेलर से आज्ञा प्राप्त की और लड़के से मिलने को तैयार हुई। लड़के को पता चला कि मेरी माता मुझसे मिलना चाहती है, तो उसने उससे मिलने की अनिच्छा

प्रकट की। जेल के कर्मचारी ने जब लड़के को बहुत समझाया तो उसने कहा—मुझे चोर बनाने वाली यह माता ही है। पहले-पहल चार आम चुरा कर लाने पर यदि माता ने प्रसन्नता प्रकट न की होती, बल्कि मुझे धमकाया होता, दण्ड दिया होता तो मैं क्यों चोर बनता और काहे को मेरी यह दुर्गति हुई होती !

भाइयों ! माता-पिता जब गैर जिम्मेदार हो जाते हैं तो कितना अनर्थ होता है, यह बात इस उदाहरण से समझनी चाहिए।

आप अपने परिवार को यदि सभ्य, सुसंस्कृत, सदाचारी और सुखी देखना चाहते हैं तो अपने बालकों को धार्मिक शिक्षा दो। यह ऐसी बात है जो एक कान से सुन कर दूसरे कान से नहीं निकाल देनी चाहिए। अगर घर पर धर्म शिक्षा की व्यवस्था हो सकती है तो ठीक, अन्यथा इसके लिए बाहर भेजने में भी संकोच नहीं करना चाहिए। साथ ही इस बात की चौकसी रक्खो कि आपका बालक बिगड़ैल बच्चों के साथ रह कर कहीं बुरी आदतें तो नहीं सीख रहा है! बीड़ी, सिगरेट, दुराचार में तो नहीं फँस रहा है !

आप अभी प्रतिदिन उपदेश सुन रहे हैं, मगर देखता हूँ कि आपके जीवन पर उसका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ रहा है। इसका कारण यही जान पड़ता है कि आपने बचपन में, अच्छे संस्कार उत्पन्न करने वाली धार्मिक शिक्षा नहीं प्राप्त की है। जो भी हो, आप अपनी सन्तान का भविष्य अगर सुखमय बनाना चाहते हैं और चाहते हैं कि वे आपकी प्रतिष्ठा में वृद्धि करें, तो उन्हें धर्मशिक्षा से वंचित मत रखना।

बगीचे में वृक्ष रोपा जाता है तो उसकी भी चौकसी करनी पडती है। वह इधर-उधर न झुक जाय, इस वास्ते उसके चारों ओर बाँस लगा देते हो। तो क्या बच्चों का मूल्य वृक्ष से भी कम है? नहीं, तो फिर उनके इधर-उधर झुक जाने का खयाल क्यों नहीं करते? भाइयों! बच्चों के इधर-उधर भी धर्मशिक्षा के बांस लगाओ।

आपके नगर के श्रीमन्त भंडारीजी धन्य हैं जिन्होंने अपने घर पर बच्चों और महिलाओं को धार्मिक शिक्षण के लिए धर्माध्यापक की व्यवस्था कर रक्खी है। अध्यापक उन्हें सामायिक, प्रतिक्रमण, थोकड़ा आदि सिखलाते हैं। हम देश--देशान्तर में भ्रमण करते रहते हैं, किन्तु भंडारीजी के यहां धार्मिक शिक्षा की जसी व्यवस्था देखी है, वैसी अन्यत्र किसी गृहस्थ के घर नहीं देखी। आपको भंडारीजी से सबक सीखना चाहिए, अन्यथा भविष्य में पश्चात्ताप करना पड़ेगा। इसके विपरीत अगर आप स्वयं नीति के अनुकूल व्यवहार करते हुए, धर्म की आराधना करते हुए अपने जीवन को पवित्र और घर के वायुमंडल को स्वच्छ बनाएंगे और सन्तान को धर्म का शिक्षण और संस्कार देंगे तो आनन्द ही आनन्द होगा!

२८-८-४५ }

ब्रह्मचर्य

स्तुति :—

इत्थं यथा तव विभूतिरभूज्जिनेन्द्र !
धर्मोपदेशनविधौ न तथा परस्य ।
यादृक्प्रभा दिनकृतः प्रहतान्धकारा,
तादृक् कुतो ग्रहगणस्य विकाशिनोऽपि ।

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं कि—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त शक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन् ! आपकी कहां तक स्तुति की जाय ? हे प्रभो ! आपके कहां तक गुण गाये जाएँ ?

हे जिनेन्द्र ! धर्मोपदेश देते समय, समवसरण में जैसी विभूति आपकी हुई, वैसी किसी और की नहीं हुई । इसमें कोई

आश्चर्य की बात भी नहीं है, क्योंकि सूर्य की जैसी अंधकार का नाश करने वाली प्रभा होती है, वैसी प्रकाशमान तारागणों की नहीं होती। अनेक तारे मिल कर भी उस प्रभा को नहीं पा सकते, जो अकेले सूर्य की होती है। प्रभो! आपका बाह्य और आन्तरिक वैभव अद्वितीय हैं।

भगवान् ने लम्बे समय तक इस भूमण्डल पर विचर कर उपदेश दिया है। उनका उपदेश सर्वांगीण था। फिर भी संक्षिप्त से संक्षिप्त शब्दों में कहा जाय तो यही कहा जा सकता है कि भगवान् के समग्र उपदेश का आशय मोह को पराजित करने का था। उन्होंने जन्म-मरण के मुख्य कारण मोह पर स्वयं विजय प्राप्त की थी और जिन उपायों से मोह-विजय किया था, वही उपाय जगत् के जीवों को दिखलाये थे। भगवान् ने जो उपदेश दिया था, वह निरपेक्ष और निष्काम वृत्ति से ही दिया था, क्योंकि वे वीतराग हैं। वीतराग भगवान् का उपदेश ही सच्चा और हितावह होता है। लोभ-लालच से प्रेरित होकर जो उपदेश देते हैं, उनके उपदेश में निरपेक्षता नहीं होती, निखालिस सत्य नहीं हो सकता और वह प्रभावशाली भी वैसा नहीं हो सकता।

आजकल उपदेशक बरसाती मेंढ़कों की तरह बढ़ते जाते हैं। पर कथा-कहानी कह कर श्रोताओं का मनोरंजन कर देना या इधर-उधर की बातें बना देना और बात है तथा आत्मकल्याण की सच्ची बात कहना और बात है। सच्चा उपदेशक वही होता है जिसने अपने जीवन में तदनुकूल साधना की हो। इस प्रकार उपदेश देना बड़ी जिम्मेदारी का काम है। उपदेश से श्रोताओं के हृदय-कमल को विकसित करके उन्हें धर्म और त्याग-मार्ग की

ओर अग्रसर करना उपदेश का लक्ष्य होना चाहिए, जिससे वे अपनी आत्मा को उन्नत बना सकें और अन्य प्राणियों के लिये सहायक और हितकर हो सकें।

दशवैकालिकसूत्र में भगवान् ने फर्माया है कि व्याख्याता ऐसी कथा न करे जिससे सुनने वाले के हृदय में विकृति उत्पन्न हो, राग-द्वेष की वृद्धि हो और इन्द्रियों की लोलुपता बढ़े। उपदेशक को ऐसा उपदेश नहीं देना चाहिए जिससे इन्द्रियां विषय सेवन के लिए उत्सुक हो जाएँ और चित्त में काम-वासना जागृत हो जाय। काम-वासना का जागरण होने से शरीर का राजा 'वीर्य' पतला पड़ जाता है और फिर शरीर के पतन में भी विलम्ब नहीं लगता। अतएव कामोद्दीपन करने वाली कथा करना जहर का प्याला पिलाने के समान हानिकारक है।

प्रायः शृंगार रस के कवि नाना प्रकार की उपमाएँ दे-देकर और रतिभाव बढ़ाने वाली उक्तियाँ कह कह कर ऐसे प्रसंग उपस्थित कर देते हैं, जिनसे श्रोताओं का चित्त विकृत होकर अधर्म की ओर अग्रसर हो जाता है। परिणाम यह होता है कि आत्मा में मलीनता आ जाती है और कर्मों के कारण वह भारी होकर संसार-सागर में डूब जाती है।

भगवतीसूत्र में पाप के अठारह कारण बतलाये हैं। उनमें स्तेय पाप के अनन्तर मैथुन की गणना की गई है। अतएव आज इसी के सम्बन्ध में कुछ कहना है। दशवैकालिकसूत्र में मैथुन के विषय में कहा है—

मूलमेयमहम्मस्स, महादोससमुस्सियं ।
तम्हा मेहुणसंसग्गं, निग्गंथा वज्जयन्ति णं ॥

—दश. अ. ६, गा १७

अर्थात् –अब्रह्मचर्य, अधर्म का मूल है और बड़े-बड़े दोषों को उत्पन्न करने वाला है। इसी कारण निर्ग्रन्थ मुनि मैथुन के सर्वथा त्यागी हैं।

जिसके हृदय में कामवासना उद्दीप्त होती है, वह पुरुष आँखें रहते भी अन्धा और कान होते हुए भी बहिरा हो जाता है। उसे हिताहित का भान नहीं रहता। वह विवाह करने के लिए न्याय-अन्याय का विचार किये बिना ही धन कमाने का प्रयत्न करता है। यहां तक कि संसार में ऐसा कोई जघन्य कृत्य नहीं जिसे कामी पुरुष करने को तैयार न हो जाय। वह कुल की मर्यादा का विचार नहीं करता, जाति के गौरव को भूल जाता है, लज्जा का परित्याग कर देता है और दुनिया भर की बेहयाई अपने ऊपर ओढ़ लेता है।

काम वासना से प्रेरित होकर कई लोग विवाह करते हैं। पर यह कौन जानता है कि स्त्री उसकी इच्छा के अनुकूल मिलेगी या प्रतिकूल? इसी प्रकार स्त्री को उसकी इच्छा के विपरीत पति मिल सकता है। फिर भी विवाह तो हो ही जाता है। सुख मिलेगा या नहीं, यह तो कोई नहीं जानता किन्तु विवाह होते ही अनेक प्रकार की चिन्ताएँ, व्याकुलताएँ और झंझटें प्रत्यक्ष अनुभव में आने लगती हैं।

कदाचित् विवाह न हो सका या विवाहिता पत्नी का देहान्त हो गया अथवा काम वासना नियंत्रित न हुई तो कई पुरुष-पिशाच ऐसे भी होते हैं जो परायी बहिन-बेटियों को धर्म भ्रष्ट कर देते हैं। कई बार तो माता के समान अपनी विधवा भौजाई को भी पतित करने से ऐसे लोग नहीं चूकते हैं!

और-और पापों की अपेक्षा यह पाप बड़ा जबर्दस्त है। दूसरे पापों का सिलसिला चालू नहीं रहता, परन्तु इस पाप का सिलसिला चालू रहता है और अनेक पापों को उत्पन्न करता है। व्यभिचार के फलस्वरूप कदाचित् कोई विधवा या कुंवारी गर्भवती हो जाय तो उसके गर्भ को गिराने के लिए वैद्यों और डाक्टरों की शरण ली जाती है। सैकड़ों रुपये गर्भ गिराने वालों को भेंट किये जाते हैं और भ्रूणहत्या का अत्यन्त घोर पातक उपार्जन किया जाता है।

एक मकान में एक किरायेदार रहता था। जब वह मकान छोड़ कर गया तो पता चला कि उसके घर में ८-१० बच्चों की हड्डियां पड़ी हुई हैं! वास्तव में कामान्ध व्यभिचारी लोग जो पाप न कर डालें वही गनीमत है। ऐसे लोग ऊपर से धर्म का ढोंग करते हैं, परन्तु उनकी अन्तरात्मा अत्यन्त पतित होती है। जब उनका भंडाफोड़ होता है। तो लोग कहते हैं--अरे, हम इन्हें ऐसा नहीं समझते थे! यह तो महापापी निकला!

इस प्रकार दुराचारी पुरुष समाज में गर्हित होता है, लोग उसकी जिंदगी पर थूकते हैं, उससे घृणा करते हैं और उसकी परछाई से भी परहेज करने लगते हैं। वास्तव में काम वासना से

बड़े-बड़े दोष उत्पन्न होते हैं। भाइयों ! यह बहुत बुरा कर्म है।

यों तो समस्त इन्द्रियों को विषय की ओर से विमुख करके-पूर्ण इन्द्रिय विजय प्राप्त करके आत्म स्वरूप में रमण करना ब्रह्मचर्य कहलाता है, परन्तु व्यवहार में स्पर्शनेन्द्रिय को जीतने के अर्थ में ही ब्रह्मचर्य शब्द रूढ़ हो गया है। जिस संयतात्मा पुरुष ने स्पर्शनेन्द्रिय पर पूरा अधिकार प्राप्त कर लिया होता है, वह अपने वीर्य की रक्षा करके ओजस्वी और तेजस्वी बन जाता है। उसके मुख मण्डल पर एक दिव्य आभा क्रीड़ा करती है। उसका मनोबल बहुत दृढ़ हो जाता है। उसके शरीर में स्फूर्ति और शक्ति का वास होता है।

शरीर वीर्य के आधार पर ही टिका है। हम लोग जो भोजन करते हैं वह चालीसवें दिन वीर्य में परिणत होता है। किया हुआ भोजन सर्वप्रथम रस के रूप में परिणत होता है। रस से रक्त बनता है और दस तोला रक्त से करीब दो तोला वीर्य तैयार होता है। जिसने एक बार भी अपने वीर्य को नष्ट किया, उसने अपने एक मास के भोजन को नष्ट कर दिया समझो। जो लोग प्रतिदिन पाप कमाते हैं, उनको क्या दुर्दशा होगी, सो तो ज्ञानी ही जानें।

स्त्री या पुरुष, जो व्यभिचारी होता है, प्रायः क्षय जैसे भयंकर राज-रोगों के शिकार बनते हैं। राजयक्ष्मा से बचने का सर्वोत्तम उपाय शरीर के राजा की-वीर्य की-रक्षा करना ही है। यदि राजा नहीं बचा तो बताओ कि प्रजा की क्या दुर्दशा होगी?

वीर्य की रक्षा करने के लिए बहुत सावधानी और सतर्कता की आवश्यकता होती है। जिसने ब्रह्मचर्य पालन का सकल्प कर लिया हो, उसे अपने आहार-विहार के सम्बन्ध में बहुत सावधानी बरतनी चाहिए। ऐसे लोगों को सर्वप्रथम इस लालिया (जीभ) को वश में करना चाहिए। जिह्वालोलुपता ब्रह्मचर्य-विघातिनी है। मादक और उत्तेजक भोजन करना, भूख से अधिक खाना, असमय में खाना, रात्रि में भोजन करना, आदि त्याग देना चाहिए। सात्विक भोजन के अतिरिक्त राजस और तामस भोजन से दूर ही रहना चाहिए। आहार पर नियंत्रण स्थापित किये बिना ब्रह्मचर्य का पालन करना बहुत कठिन है। अतएव ब्रह्मचारी को इस सम्बन्ध में खूब पक्का होना चाहिए।

साधु भोजन के विषय में परनिर्भर होते हैं। भिक्षा में जितना और जैसा भोजन उपलब्ध हो जाता है, उसे ही वह ग्रहण करते हैं। अलबत्ता इस बात का ध्यान तो अनिवार्य रूप से रखना ही पड़ता है कि भोजन प्रासुक और एषणीय हो। ऐसी स्थिति में कदाचित् सरस और पौष्टिक आहार मिले तो साधु को चाहिए कि वह उसे अंगीकार न करे। गृहस्थ का भी कर्त्तव्य है कि साधु को विषय-विकार-विवर्धक आहार न देकर सात्विक आहार की ही भिक्षा दे। परन्तु कभी ऐसा आहार लेना आवश्यक हो जाय तो दूसरे दिन उपवास कर ले, बेला करले, या तेला कर ले, जिससे उस आहार के द्वारा होने वाली हानि से वह बच सके। सरस आहार का परित्याग करना ब्रह्मचर्य की गुप्ति है। इस गुप्ति के बिना ब्रह्मचर्य का पालन होना कठिन है। जो लोग आहार-विहार में सावधान नहीं रहते, वे ब्रह्मचर्य का पालन

करने में समर्थ नहीं होते । यही कारण है कि बड़े-बड़े तपस्वी भी ब्रह्मचय का पालन करने में असमर्थ सिद्ध हुए और विलासिता के चक्कर में फँस गये ।

सुप्रसिद्ध महाराजा भर्तृहरि ने कहा है- विश्वामित्र, शृंगी और पाराशर जैसे बड़े-बड़े महात्मा, जो हवा खाकर और पानी पीकर तपश्चर्या करते थे कामिनियों के कटाक्षों को देख कर मोहित हो गये और प्रणय की भीख माँगने लगे । सारी तपश्चर्या पर पानी फेर कर पतित हो गये ।

जो लोग प्रतिदिन मालपुवा, रबड़ी और मोहनभोग उड़ाते हैं और फिर भी यह दावा करते हैं कि हम ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं ! महर्षि भर्तृहरि का कथन है कि विंध्याचल पर्वत को समुद्र में तिराना और ऐसे लोगों का ब्रह्मचर्य पालना बराबर है, अर्थात् असम्भव है ।

कंकर पत्थर खात है, उनको जागे काम ।
सीरा सबूणी खात जो, उनकी जाने राम ॥

यह विषय वासना ऐसी पिशाचिनी है कि एक बार प्रवेश करके फिर पिण्ड नहीं छोड़ती । एक बार चस्का लगा कि फिर छूटना कठिन हो गया ।

किसी अंगरेज ने शेर का एक बच्चा पाला । बचपन से ही उसे दूध पिला कर बड़ा किया । संयोगवश उस अंगरेज के पैर में चोट लग गई । वह सोया हुआ था । शेर अंगरेज के पैर को चाटने लगा । उसके मुँह में खून लगा और उसे वह बहुत रुचि-

कर लगा। शेर पैर को जोर-जोर से चाटने लगा। अंगरेज ने पैर हिलाया इस हरकत को देख कर शेर घुर्राने लगा। अंगरेज ने समझ लिया कि शेर को खून का स्वाद आ गया है और अब मेरी खैर नहीं है। उसने फिर पैर फैला दिया और शेर खून चाटने लगा। इधर उसने अपनी पिस्तौल सम्भाली और गोली दाग दी। शेर वहीं ढेर हो गया।

भाइयों ! तुमने काम भोग रूपी शेर क्यों पाल रक्खा है ? इसे पिस्तौल मारो, अन्यथा वह तुम्हें खा जायगा ।

सब काम सरल हैं, पर कामदेव को जीतना कठिन है। धन्य हैं विजयकुंवर और विजयाकुमारी, जिन्होंने उभरते हुए यौवन में, विवाहित होकर पति-पत्नी के रूप में रहते हुए भी, अपने मन-मातंग पर विवेक का दिव्य अकुंश रक्खा और उसे स्वच्छंद न होने दिया। वे आबाल-ब्रह्मचय का पालन करने में समर्थ हो सके।

कच्छ देश में, कौशाम्बी नगरी में एक बहुत बड़े साहूकार रहते थे। उनके विजयकुंवर नामक एक बुद्धिमान और विनीत पुत्र था। विजय एक बार मुनिराज का उपदेश सुनने गया। उपदेश में ब्रह्मचर्य का प्रकरण चल रहा था। विषय बहुत रोचक और प्रभावजनक रूप में प्रतिपादन किया जा रहा था। उसे सुनकर विजय को बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत को अंगीकार करने की इच्छा प्रकट की।

गुरु महाराज अत्यन्य दीर्घदृष्टि और विवेकशाली थे। उन्होंने नवयुवक विजय की प्रार्थना का उत्तर देते हुए कहा—तुम

अपने पिता के एकलौते पुत्र हो और नवयुवक हो। सोच-समझ कर प्रतिज्ञा ग्रहण करो। भावावेश में ग्रहण की हुई प्रतिज्ञा स्थायी नहीं होती। एक बार प्रतिज्ञा लेकर उसे भंग करना अपनी आत्मा का घोर अधःपतन करना है। अतएव खूब सोच लो, समझ लो।

मुनिराज के इस प्रकार सावधान करने वाले वचन सुनकर विजयकुंवर ने निवेदन किया – गुरुदेव! मैं अपनी शक्ति को तोलने का प्रयत्न करूँगा, फिर भी कम से कम कृष्ण पक्ष में तो ब्रह्मचर्य पालने का प्रण करा ही दीजिए। मैं इतना पामर नहीं जो महीने में एक पक्ष भी ब्रह्मचर्य न पाल सकूँ।

गुरु महाराज विजय का धर्म प्रेम देख कर प्रसन्न हुए। उन्होंने उक्त प्रण करा दिया। विजय अपने घर लौट आया।

दूसरी तरफ विजयाकुमारी, किसी दूसरे साहूकार की कन्या, साध्वीजी का उपदेश सुनने गई। वहां भी ब्रह्मचर्य पर व्याख्यान हुआ। विजयाकुमारी ने व्याख्यान सुन कर दीक्षा ग्रहण करने की इच्छा प्रकट की। परन्तु माता--पिता के आग्रहपूर्ण अनुरोध को वह टाल नहीं सकी। फिर भी उसने शुक्ल पक्ष में ब्रह्मचर्य पालने की प्रतिज्ञा अंगीकार कर ही ली।

संयोगवश दोनों का विवाह हो गया!

नवदम्पत्ति के मिलन के लिए चौथे मंजिल का एक भवन सजाया गया। जगह-जगह हीरा, मोती, पन्ना आदि जड़े हुए थे। भवन की दीवारें सुन्दर चित्रमय कला कृतियों से सजीव-सी प्रतीत हो रही थीं।

विजयकुंवर भवन में पहुँच चुके थे। इधर विजया भी स्नान आदि से निवृत्त होकर, सोलहों शृंगार सज कर तैयार हुई उस भवन में जा पहुँची। विजय उस समय रत्न जटित स्वर्ण-पर्यंक पर आसीन थे। विजया हाथ जोड़ कर, किंचित् क्रीड़ा युक्त स्मित के साथ अपने पतिदेव के समक्ष खड़ी हो गई।

त्रयोदशी की रात्रि थी। कृष्ण पक्ष चल रहा था। कुमार ने सोचा–तीन दिन कृष्ण पक्ष के शेष रह गये हैं। अपनी प्रतिज्ञा का पालन करना सत्यशाली पुरुष का परम कर्त्तव्य है। इस प्रकार सोचकर उसने अपनी दृष्टि नीची कर ली। उसने निसर्ग की प्रेरणा को पराजित कर दिया और अनुराग पूर्ण नयनों से विजया की ओर देखा तक नहीं।

भाइयों! सोहाग--रात के मधुर मिलन अवसर पर विजय का यह अनोखा व्यवहार देख कर विजया के अन्तस्तल में कैसी-कैसी उर्मियां उठी होंगी, उसका नवनीत-कोमल चित्त किस प्रकार आहत हुआ होगा, यह कौन जान सकता है?

विजया आश्चर्य के साथ विचारों की तरंगों में उतराने लगी। उसने पतिदेव से कहा:—

होवे जमाइ लाड़ला, ज्यों रूसे त्यों रंग।
विन अवसर को रुसवो, बालक वालो ढंग।

नाथ! जान पड़ता है, आप किसी गहरी चिन्ता में डूबे हैं! अब मैं आपकी अर्धांगिनी हूँ। मुझसे कोई बात छिपाने की आवश्यकता नहीं। मेरा और आपका सौभाग्य एवं सुख-दुःख

एकाकार हो गया है। कृपया बतलाइए कि आप मुझ दासी की ओर दृष्टि भी नहीं फेरते ? क्या मुझसे कोई अपराध बन गया है ? अथवा आप मुझे छिटकाना चाहते हैं ? या मेरे माता-पिता ने आपकी इच्छाएँ पूर्ण नहीं की हैं ? आखिर आपकी इस गम्भीरता का क्या कारण है ? आप मुझे योग्य समझते हों तो कहिए।

भाग्यवानों ! आज भोग और ब्रह्मचर्य के बीच लड़ाई छिड़ी है। देखना है, किसकी विजय होती है ?

विजया कहती है—स्वामिन् ! मुझसे अज्ञानवश या असावधानीवश हथलेवा के समय कोई अपराध हो गया हो तो क्षमा करें। आप बड़े हैं ! मैं आपकी सेविका हूँ। मुझे किसी प्रकार निभा लीजिए।

विजया के इतना कहने पर भी विजय मौन है। बोलने का साहस नहीं होता। यों तो कहावत है—'मौनं सर्वार्थसाधनम्' अर्थात् मौन से सभी प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं।

विजया फिर कहती है-नाथ ! क्या मेरा कुल आपकी बराबरी का नहीं कि आप मुझसे घृणा करते हैं ? अथवा क्या आपकी इच्छा के विरुद्ध मैंने आपके गृह में प्रवेश किया है ? आखिर आपके इस असामयिक रोष का क्या कारण है ?

विजय ने सोचा—अब मैं चुप रहा तो अनर्थ हो जायगा। विजया न जाने क्या-क्या कल्पनाएँ करके व्याकुल हो रही है। इसे यथार्थ बात बतला देना ही उचित होगा। यह सोच कर विजय ने कहा—प्रिये ! तुम यह क्या कह रही हो ? न

कोई अपराध हुआ है और न मैं तुम्हें हीन ही समझता हूं। तुम मेरे हृदय की रानी हो। तुम्हारे माता-पिता ने मेरा जो सन्मान किया है, उसका ब्याज चुकाने की भी मुझमें शक्ति नहीं है। उनका दान मेरे लिए अनमोल है। उन्होंने अपने कलेजे का टुकड़ा देकर मुझे आजीवन कृतार्थ बना दिया है। तुम्हारे रूप में मुझे महती शक्ति प्रदान की है। और तुम्हारे अपराध की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती है। तुम निर्दोष और सुकुमार कुसुम हो, परन्तुः—

कहते कहते विजयकुमार रुक जाते हैं। वह सोचते हैं कि मेरे त्याग की बात सुन कर कहीं इस देवी के हृदय पर आघात न लगे।

विजया ने तत्काल प्रश्न किया—इस 'किन्तु' का क्या अर्थ है नाथ!

विजय बोले—देवी! मैं एक बार गुरु महाराज का उपदेश सुनने गया था। ब्रह्मचर्य के विषय में उपदेश सुना। मेरा विचार भागवती जिनदीक्षा ग्रहण करने का हुआ, परन्तु माता-पिता की आज्ञा न मिलने के कारण विवश हो गया। अन्ततः कृष्ण पक्ष में ब्रह्मचर्य पालने की प्रतिज्ञा धारण की है। आज त्रयोदशी है। तीन दिन के पश्चात् मैं तुम्हारा स्वागत कर सकूंगा देवी! इससे पहले नहीं।

विजयकुमार के स्पष्टीकरण को सुनकर विजया सन्न रह गई! उसके चेहरे पर म्लानता और गम्भीर विषाद झलकने लगा। उसका गला भर आया। आंखों में आंसू भर गये।

विजया की यह विचित्र स्थिति देख कर विजयकुमार विस्मित हुए। उन्होंने कहा--देवी, क्या कारण है कि मेरी बात सुन कर तुम एकदम खिन्न हो गई? तुम्हारी समान धार्मिक संस्कार वाली महिला को क्या यह साधारण-सी बात भी सह्य नहीं है? मेरे इस प्रण को तुम अपने लिए इतना कष्टकर समझती हो?

विजया- नहीं, नाथ! बात इतनी नहीं इससे भी बड़ी है।

विजय—कैसे? तीन दिन तो चुटकियों में निकल जायँगे।

विजया—मगर स्वामिन्! निकालना तो होगा मुझे सम्पूर्ण जीवन।

विजय—सो क्यों प्रिये!

विजया जैसे आपने कृष्ण पक्ष में ब्रह्मचर्य पालने की प्रतिज्ञा ली है, उसी प्रकार मैंने शुक्ल पक्ष में ब्रह्मचर्य-पालन का प्रण लिया है। यही सोच कर मेरा हृदय भर आया। आपकी प्रतिज्ञा के तीन दिन समाप्त होते ही मेरी प्रतिज्ञा आकर खड़ी हो जायगी। जैसे आपको अपनी प्रतिज्ञा पालनी है, उसी प्रकार मुझे भी तो पालनी ही होगी।

स्वामिन्! एक प्रकार से यह अच्छा ही हुआ है। 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी' अर्थात् जिसकी जैसी भावना होती है, उसको वैसी ही सिद्धि मिलती है। मैं पूर्ण ब्रह्मचर्य पालना चाहती थी सो मेरी चाह पूरी हुई। संयोगवश यह योग मुझे मिल गया। अब कल मुझे दीक्षा ग्रहण करने की आज्ञा

दीजिए और आप दूसरा विवाह कर लीजिए। यह आत्मिक धर्म का प्रश्न है। इसका परित्याग न आप ही कर सकते हैं और न मैं ही।

भाइयों! मीरा ने राणाजी के लाख प्रयत्न करने पर भी अपने आत्मधर्म का परित्याग नहीं किया था। उनसे यह प्रश्न किया जाता था—

मीरा थारे कई लागे गोपाल ?
थने राणाजी पूछे हाल ॥ मीरा० ॥

मगर भक्तों का भगवान् से क्या रिश्ता होता है, यह तो भक्त ही समझ सकते हैं। प्रपंचों में पड़ी दुनिया को भक्तों की भाषा ही समझ में नहीं आ सकती।

विजया का यह कथन सुन कर विजयकुमार ने ओज के साथ कहा—प्रिये! तुम विवेकवती हो, फिर भी मुझे जो परामर्श दे रही हो, उसमें विवेक की झलक नहीं दिखलाई देती। जहां मोह है वहाँ विवेक नहीं रहता। तुम्हारा मेरे प्रति जो मोह है, उसी के कारण तुम विवेक भूल गई हो। अन्यथा दूसरा विवाह करने का परामर्श क्यों देतीं ? तुम आजीवन पूर्ण ब्रह्मचारिणी होकर रहो, साध्वी जीवन व्यतीत करो और मैं दूसरा विवाह करके भोग-विलास में मस्त रहूं! क्या तुमने मुझे विषय का कीड़ा समझ लिया है? नारी यदि दूसरा विवाह नहीं कर सकती तो पुरुष को भी ऐसा करना शोभा नहीं देता। समाज ने चाहे जैसी मर्यादा बना रक्खी हो, परन्तु धर्म की मर्यादा तो दोनों के लिए

समान है शास्त्रों में श्राविका और श्रावक का धर्म अलग-अलग प्रकार का नहीं है। फिर तुम मुझे क्यों दूसरा मार्ग बतलाती हो? तुम्हारा और मेरा मार्ग एक ही होगा।

प्रिये! खाने को दाख मिल जाय तो कौन मूर्ख निबौरी खाना पसन्द करेगा? जिसे हीरा मिल गया हो वह हीरा छोड़ कर उसके बदले पत्थर क्यों उठाये फिरेगा? कामधेनु को छोड़ कर छेरी को कौन अपने घर में बाँधना चाहेगा? मैं इतना मूर्ख नहीं जो दूसरा विवाह करूँ। विवाह का प्रयोजन कामवासना की तृप्ति करना ही नहीं है। नर और नारी आपस में सहयोग करके अपनी-अपनी त्रुटियों को पूर्ण करें, यह विवाह का प्रयोजन है। अतएव हम दोनों ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए भी पति-पत्नी के रूप में रहेंगे और अपने-अपने धर्म का पालन करेंगे।

बोलो, बोलो, अरे भ्रूणहत्या करने वाले हत्यारों! बोलो। जरा अपने इन पूर्वजन्माओं के पावन चरित पर विचार करो। विजय और विजया की क्या आयु है? नवयौवन के भव्य भवन में प्रविष्ट हुए हैं एक महल है, एक पलंग है और दोनों वैभव की गोद में क्रीड़ा करते रहे हैं। फिर भी क्या क्षण भर के लिए भी वे अपने प्रण से विमुख हुए? क्या कामवासना ने उन्हें विवेक-शील और धर्म से च्युत किया? क्या गजब का प्रणपालन है!

विजयकुमार बोले—एक बात ध्यान में रखनी है। माता-पिता को हमारी प्रतिज्ञा का हाल मालूम होगा तो उन्हें बहुत विषाद होगा। अतः यह बात प्रकाशित न करना ही योग्य है। हम दोनों भाई-बहन की पवित्र भावना के साथ पति-पत्नी के रूप

में रहें और जब माता-पिता को पता चले तभी दीक्षा ले लें।

विजया कुमारी इस पर राजी हो गई।

खेद है कि आज साठ वर्ष के बूढ़े, जो मौत के मुँह में समा जाने को तैयार बैठे हैं, दूसरी और तीसरी शादी करने पर उतारू हो जाते हैं। इसके लिए वे अनेक प्रपंच रचते हैं और कन्याओं का जीवन खतरे में डाल देते हैं। अगर इस पवित्र चरित से ऐसे लोग कुछ शिक्षा ले सकें तो कितना अच्छा हो।

इसके बाद विजया और विजय रात्रि का समय धर्मध्यान में व्यतीत करने लगे। कभी आत्मा का विचार करते, कभी कर्म सिद्धान्त की गुत्थियों को सुलझाते, कभी तत्त्वों की विवेचना करते, उनके सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर करते और कभी-कभी अन्य विषयों की चर्चा करते थे। ऐसा करते-करते बारह वर्ष व्यतीत हो गये।

भाइयों ! इस भव्य भूमि भारत में एक-एक से बढ़ कर आदर्श त्यागी और ब्रह्मचारी हो चुके हैं। उनमें प्रातः स्मरणीय महिलाएँ भी हुई हैं और पुरुष भी हुए हैं। पितामह भीष्म का नाम भारत का कौन संस्कारी पुरुष नहीं जानता ? कहाँ तक नाम गिनाये जाएँ ? राजीमती और अरिष्टनेमि की जोड़ी क्या कम प्रेरणा प्रदायिनी है ? तुम इन्हीं के उपासक हो। इनकी जीवनी से प्रेरणा ग्रहण करो। अपने जीवन का ऊँचा उठाओ तो यह चरित और यह उपदेश सुनना सफल होगा।

उस समय विमल केवली भगवान् भूतल पर विराजमान

थे। भगवान् ने धर्मोपदेश में एक बार ब्रह्मचर्य की महिमा का वर्णन किया। तब किसी श्रोता ने प्रश्न किया—प्रभो ! क्या ऐसा ब्रह्मचर्य पालने वाला इस पृथ्वी पर कोई विद्यमान है ? भगवान् ने उत्तर में कहा हां, कच्छ देश की कौशाम्बी नगरी में विजयकुमार और विजयाकुमारी बारह वर्ष से, दम्पत्ति के रूप में रहते हुए भी, एक ही भवन में वास करते हुए भी अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन कर रहे हैं।

केवली भगवान् द्वारा की हुई यह प्रशंसा सुन कर उस सभा में उपस्थित राजा, महाराजा, सेठ, साहूकार आदि को उनके दर्शन करने की अभिलाषा हुई। उन्होंने सोचा-चलो, ऐसी महान् आत्माओं के दर्शन करें।

सब मिल कर कौशाम्बी आये। नगर में पता पूछ कर सेठजी के घर पर पहुंचे और सभी ने विनीत भाव से सेठजी के चरण छुए। सेठजी की समझ में कुछ न आया कि आखिर यह लोग क्यों आये हैं और क्यों मेरे प्रति इतना आदर भाव व्यक्त कर रहे हैं? वह हक्के--बक्के-से रह गये। उन्होंने पूछा--बात क्या है ?

आगन्तुकों ने कहा—श्रेष्ठिवर ! आप धन्य हैं, जिन्होंने विजयकुमार और विजयाकुमारी की महामहिम जोड़ी सन्तान के रूप में पाई हैं। हम सब उनके दर्शन की अभिलाषा से आये हैं।

सेठ ने चकित भाव से पूछा—क्या विजय महात्मा हो गया है ?

में रहें और जब माता-पिता को पता चले तभी दीक्षा ले लें।

विजया कुमारी इस पर राजी हो गई।

खेद है कि आज साठ वर्ष के बूढ़े, जो मौत के मुँह में समा जाने को तैयार बैठे हैं, दूसरी और तीसरी शादी करने पर उतारू हो जाते हैं। इसके लिए वे अनेक प्रपंच रचते हैं और कन्याओं का जीवन खतरे में डाल देते हैं। अगर इस पवित्र चरित से ऐसे लोग कुछ शिक्षा ले सकें तो कितना अच्छा हो।

इसके बाद विजया और विजय रात्रि का समय धर्मध्यान में व्यतीत करने लगे। कभी आत्मा का विचार करते, कभी कर्म सिद्धान्त की गुत्थियों को सुलझाते, कभी तत्त्वों की विवेचना करते, उनके सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर करते और कभी-कभी अन्य विषयों की चर्चा करते थे। ऐसा करते-करते बारह वर्ष व्यतीत हो गये।

भाइयों! इस भव्य भूमि भारत में एक-एक से बढ़ कर आदर्श त्यागी और ब्रह्मचारी हो चुके हैं। उनमें प्रातः स्मरणीय महिलाएँ भी हुई हैं और पुरुष भी हुए हैं। पितामह भीष्म का नाम भारत का कौन संस्कारी पुरुष नहीं जानता? कहाँ तक नाम गिनाये जाएँ? राजीमती और अरिष्टनेमि की जोड़ी क्या कम प्रेरणा प्रदायिनी है? तुम इन्हीं के उपासक हो। इनकी जीवनी से प्रेरणा ग्रहण करो। अपने जीवन का ऊँचा उठाओ तो यह चरित और यह उपदेश सुनना सफल होगा।

उस समय विमल केवली भगवान् भूतल पर विराजमान

थे। भगवान् ने धर्मोपदेश में एक बार ब्रह्मचर्य की महिमा का वर्णन किया। तब किसी श्रोता ने प्रश्न किया—प्रभो ! क्या ऐसा ब्रह्मचर्य पालने वाला इस पृथ्वी पर कोई विद्यमान है ? भगवान् ने उत्तर में कहा हां, कच्छ देश की कौशाम्बी नगरी में विजयकुमार और विजयाकुमारी बारह वर्ष से, दम्पत्ति के रूप में रहते हुए भी, एक ही भवन में वास करते हुए भी अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन कर रहे हैं।

केवली भगवान् द्वारा की हुई यह प्रशंसा सुन कर उस सभा में उपस्थित राजा, महाराजा, सेठ, साहूकार आदि को उनके दर्शन करने की अभिलाषा हुई। उन्होंने सोचा-चलो, ऐसी महान् आत्माओं के दर्शन करें।

सब मिल कर कौशाम्बी आये। नगर में पता पूछ कर सेठजी के घर पर पहुंचे और सभी ने विनीत भाव से सेठजी के चरण छुए। सेठजी की समझ में कुछ न आया कि आखिर यह लोग क्यों आये हैं और क्यों मेरे प्रति इतना आदर भाव व्यक्त कर रहे हैं ? वह हक्के--बक्के-से रह गये। उन्होंने पूछा--बात क्या है ?

आगन्तुकों ने कहा—श्रेष्ठिवर ! आप धन्य हैं, जिन्होंने विजयकुमार और विजयाकुमारी की महामहिम जोड़ी सन्तान के रूप में पाई हैं। हम सब उनके दर्शन की अभिलाषा से आये हैं।

सेठ ने चकित भाव से पूछा—क्या विजय महात्मा हो गया है ?

उत्तर मिला--बड़े-बड़े तपस्वियों की तपस्या उनके चरित्र के सामने नगण्य है ! महात्मागण कठिन तपस्या कर करके जो फल प्राप्त कर पाते हैं, उन्होंने उसे गृहस्थी में रहते हुए प्राप्त किया है। तपस्या का प्रधान फल मन और इन्द्रियों का निग्रह करना है और इस दृष्टि से उन्होंने बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त किया है। उनके मुकाबिले में महात्मा भी कोई चीज नहीं है। स्वयं विमल केवली भगवान् अपने मुखारविन्द से जिनकी प्रशंसा करते हैं, उनकी महत्ता क्या कम हो सकती है ? बारह वर्ष से वे दोनों ब्रह्मचर्य की उग्र तपस्या कर रहे हैं और ब्रह्मचर्य ही सब से उत्तम तप है। कहा है--

तवेसु वा उत्तम बंभचेरं।

सेठ को पता ही नहीं था कि पुत्र और पुत्रवधू ब्रह्मचर्य का पालन कर रहे हैं। यह बात सुनी तो वह विस्मित रह गया। उसने उसी समय पुत्र और पुत्रवधू को बुलवाया।

दोनों सेठजी के सामने उपस्थित हुए। उन्होंने कहा--पिताजी ! हमारी यह प्रतिज्ञा थी कि जब तक आपको हमारे ब्रह्मचर्य पालन का पता नहीं चलेगा, हम गृहस्थी में रहेंगे, आपको पता लगते ही हम दीक्षा लेकर आत्म-कल्याण करेंगे। इस प्रतिज्ञा के अनुसार अब दीक्षा का काल आ पहुंचा है। कृपया आज्ञा प्रदान कीजिए।

आखिर दोनों ने दीक्षा लेकर आत्म कल्याण किया।

भाइयों ! ऐसे ही महात्माओं की हम तारीफ करते हैं। यहाँ व्यभिचारियों की तारीफ नहीं होती, बल्कि जिन्होंने अपनी

पामर हैं, निर्माल्य हैं, उन्होंने आत्मा की सुदृढ़ संकल्पशक्ति को समझने का कभी प्रयास ही नहीं किया। अतएव ऐसे कायरता-पूर्ण विचारों को हृदय में स्थान मत दो। अनेक महात्माओं के चरित्र हमारे समक्ष मौजूद हैं, जिनसे ऐसे हीन विचारों का खण्डन होता है। उनमें से एक चरित्र मैंने अभी सुनाया है। ऐसे निज चरित्रों को आदर्श बनाओ। पूर्ण ब्रह्मचर्य पालने का प्रयास करो। यकायक ऐसा न कर सको तो सीमित ब्रह्मचर्य का पालन करो और क्रमशः उसी दिशा में अग्रसर होते चलो। ऐसे करोगे तो आनन्द ही आनन्द होगा।

६-११-४८ }

कृष्ण--जन्म

स्तुति :–

उन्निद्रहेमनवपङ्कजपुञ्जकान्ती,
पर्युल्लसन्नखमयूखशिखाभिरामौ।
पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र ! धत्तः
पद्मानि तत्र विबुधाः परिकल्पयन्ति ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं कि–हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त शक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन् ! आपकी कहां तक स्तुति की जाय ? हे प्रभो ! आपके कहां तक गुण गाये जाएँ ?

जिनेन्द्र देव ! खिले हुए स्वर्ण कमलों के समूह के सदृश कान्ति से युक्त, और बिखरती हुई नखों की किरणों से अत्यन्त

सुन्दर आपके चरण जहाँ पड़ते हैं, वहाँ देवगण कमलों की रचना करते जाते हैं। अर्थात् जिस जगह भगवान् अपने चरण रखते हैं, उस जगह देव कमलों की रचना कर देते हैं।

भगवान् ने अन्यान्य पुण्य प्रकृतियों के साथ, सर्वोत्कृष्ट पुण्य प्रकृति तीर्थंकर नामकर्म की प्रकृति का भी बन्ध किया था। यही कारण है कि स्वर्ग लोक से आकर देवतागण भी भगवान् की सेवा किया करते थे।

इस संसार में, भगवान् ऋषभदेवजी ही प्रथम महापुरुष थे, जिन्होंने इस अवसर्पिणी काल में, कर्मभूमि के आरम्भ के समय पहले व्यवहार मार्ग बतलाया और फिर चार तीर्थों की स्थापना करके मुक्ति का भी मार्ग बतलाया। तदनन्तर क्रमशः विभिन्न कालों में तेईस तीर्थंकर और उत्पन्न हुए, जिनमें अन्तिम भगवान् महावीर थे। आज अन्तिम तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी का शासन चल रहा है।

सभी तीर्थंकरों का उपदेश एक-सा था। सभी ने एक समान ही तत्त्वों का निरूपण किया। कहावत है—

सौ स्याणों का एक मता,
सौ मूरखों का सौ मता ॥

मत विभिन्नता का कारण अल्पज्ञता है। परिपूर्ण ज्ञान के होने पर किसी प्रकार का मत भेद नहीं रहता। अपूर्णता में अनेक कोटियां होती है, किन्तु पूर्णता स्वयं एक ही कोटि है। उस कोटि पर पहुँचने वालों में किसी प्रकार का मतभेद नहीं हो सकता।

तीर्थंकर भगवान् परिपूर्ण ज्ञान को उपलब्ध करके ही उपदेश देते हैं, अतएव सभी तीर्थंकरों का उपदेश समान होता है।

इस कथन का आशय यह नहीं समझना चाहिए कि एक तीर्थंकर ने जिस शब्दावली का प्रयोग कर दिया, उसी को दूसरे तीर्थंकर दोहरा देते हैं। ऐसी बात नहीं है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और पात्र के भेद से उनके उपदेश के बाह्य रूप में अन्तर अवश्य पड़ता है, किन्तु उपदेश का अन्तस्तत्त्व समान ही होता है। जब वस्तु का मूल स्वरूप शाश्वत है और ज्ञान भी परिपूर्ण है तो उपदेश में पार्थक्य आ ही नहीं सकता। इस प्रकार सभी तीर्थंकरों ने यही उपदेश दिया है कि–हे भव्य प्राणियों ! अपनी आत्मा को तिराना चाहते हो तो पाप से बचो। पाप से आत्मा भारी होकर संसार-सागर में डूब जाती है।

गौतम स्वामी ने भगवान से प्रश्न किया—प्रभो ! पाप कितने हैं ?

भगवान् ने फर्माया—अठारह प्रकार के।

भाइयों ! इन अठारह पापों में हिंसा, असत्य, स्तेय और मैथुन की तरह परिग्रह भी महान् पाप है। इससे आत्मा का अधःपतन होता है। बल्कि यों कहना चाहिए कि परिग्रह सब पापों का बाप है।

"मुच्छा परिग्गहो वुत्तो नायपुत्तेण ताइणा।"

जगत् के त्राता ज्ञातपुत्र भगवान ने मूर्छा–ममत्व भाव को परिग्रह बतलाया है। यह मकान मेरा, यह वस्त्र मेरा, यह शरीर

मेरा, यह शास्त्र मेरा, इस प्रकार किसी भी परपदार्थ में जो मेरे-पन का भाव है, यही परिग्रह है। परिग्रह मनुष्य को वहिर्मुख बनाता है और लोभकषाय को जागृत करके पथभ्रष्ट कर देता है।

भाइयों! आज मथुरा में कंस का किला खाली है। देहली में पाण्डवों का किला ऊजड़ हो गया है। जलेसर में राजा जरासंध का गढ़ टूटा पड़ा है। उनके बचे खुचे खण्डहरों में पक्षियों ने और दूसरे वनचरों ने अपना अड्डा जमा रक्खा है। फिर बताओ तो सही, तुम्हारे घर और खेत उनकी तुलना में क्या चीज है? किस बिरते पर तुम दुनिया की चीजों को अपनी २ कह कर घमण्ड कर रहे हो? महलों और मकानों की बात छोड़ो और शरीर को ही लो। जिसे तुम अपना समझते हो और जो तुमसे अन्य वस्तुओं की अपेक्षा अधिक निकटवर्ती है, जिसके लिए सारा जन्म व्यतीत कर रहे हो, वही शरीर क्या तुम्हारा साथ देता है? नहीं। इसी कारण मुनिजन शरीर पर भी ममता नहीं रखते। भगवान ने इसीलिए कहा है:—

"अवि अप्पणो वि देहम्मि, नायरंति ममाइयं।"

मूर्छा के कारण मनुष्य मृत्युपर्यन्त घर, जमीन, धन-सम्पत्ति आदि में इस प्रकार फंसा रहता है कि उसे आत्मा की ओर दृष्टि डालने का, अपने आपको पहचानने का अवकाश ही नहीं मिलता। जीवन के अन्तिम क्षण तक बनी रहने वाली प्रबल आसक्ति के फलस्वरूप मरने पर उसी जगह सांप बनने की मसल मशहूर है।

इसी प्रकार जो बाई ममता के कारण धन, आभूषण अथवा वस्त्र सम्भाल-सम्भाल कर रखती है, आवश्यकता से अधिक संग्रह करती है, और उन पर से ममता का त्याग किये बिना ही मर जाती है, वह उस ममता के कारण भूतनी बनती है। फिर वह अपनी सौतों के सिर पर सवार होकर धुनती है।

ममता इस लोक में भी और परलोक में दुःख देने वाली है। अतएव आपसे मेरा कहना है कि अनर्थकारिणी ममता का परित्याग करो।

भाइयों ! यह धन-दौलत और राज्य लक्ष्मी वेश्या के समान है। यह स्थिरवृत्ति वाली नहीं है। आज एक की बगल में है तो कल दूसरे की बगल में खड़ी हो जाती है। इस पर विश्वास करना सिर्फ नादानी के सिवाय और कुछ भी नहीं है। यह आज तक किसी भी राजा, महाराजा या सेठ साहूकार की बन कर नहीं रही।

एक दिन हिटलर के नाम से संसार थर्रा उठता था। वह समस्त पश्चिम में एकच्छत्र साम्राज्य के स्वप्न देख रहा था। उनकी सेनाएं प्रलय कालीन अंधड़ के समान जिस दिशा में चल पड़तीं, बंटाढार करती जाती थीं। उसकी प्रत्येक बात में अभि-मान का पुट रहता था, परन्तु आज उस हिटलर का कहाँ पता है ? दुनियाँ को यह भी पता नहीं चल सका कि हिटलर कब, कहां और किस प्रकार मौत के मुँह में चला गया ? जो आदमी घमण्ड करता है, उसका सिर नीचा हुए बिना नहीं रहता।

इस संसार में ऐसे घमण्डी हजारों-लाखों हो गये हैं। हम

किन-किन मुर्दों का नाम गिनाएँ ! पर आज हम एक मुर्दे का जिक्र करते हैं। वह भी बड़ा घमण्डी था । वह मथुरा का राजा 'कंस' था ।

इस युग में बहुत–से लोग ऐसे हैं। जो कहा करते हैं–हम ईश्वर को नहीं मानते । हम धर्म को नहीं मानते । ईश्वर और धर्म को मानना मूर्खता है, धतिंग है, ढोंग है । उस जमाने में ऐसा मानने वाले कम थे, परन्तु कंस ऐसा ही–मानने वालों में था ।

कंस का कहना था – ईश्वर की पूजा मत करो, ईश्वर की उपासना और भक्ति मत करो । दुनिया में ईश्वर कोई है ही नहीं ।

कंस को अपनी शक्ति पर ऐसा घमण्ड था कि न पूछो बात ! वह गरज-गरज कर कहता था—जाया है किसी माता ने ऐसा पूत जो मेरे सामने सिर उठा कर खड़ा हो सके ! मेरी तलवार में वह ताकत है कि सारी दुनिया को थर्रा दे !

अपने नास्तिकतापूर्ण विचारों के कारण वह स्वार्थी और निर्दयी बन गया था । दया उसके दिल को छू भी नही गई थी । क्रूर से क्रूर कृत्य करने में उसे संकोच नहीं होता था ! अत्याचार करने में उसे झिझक नहीं होती थी । वह अपने पापों का घड़ा भर रहा था ।

सेर होय मत फिरो जगत में,
सवा सेर मिल जायगा कभी ।

जो सेर होकर फिरता है, उसे कभी न कभी सवा सेर अवश्य मिल जाता है ।

चिउंटी के जब पर आते हैं तो लोग कहते हैं--यह पर नहीं, मरने की निशानी है। यमराज का नोटिस है!

जब किसी आदमी में घमण्ड का भाव अत्यधिक बढ़ गया हो और वह घमण्ड के कारण फूल रहा हो तो समझो कि इसकी मौत इसके सिर पर चक्कर काट रही है! कंस के सिर पर ऐसा ही घमण्ड छाया हुआ था!

गर्मी की हद हो जाती है तो वर्षा का आगमन होता है। यह प्रकृति का विधान है। कंस के अत्याचारों की हद हो चुकी थी, अतएव जनता आशा लगाये बैठी थी कि किसी मर्यादा-पुरुष का जन्म होना चाहिए। जनता की आशा पूरी हुई और कर्मवीर कृष्ण का जन्म हुआ।

मतवाला हाथी अभिमान में अन्धा होकर अपने सामने किसी को कुछ गिनता ही नहीं है। और जब वह पहाड़ के पास पहुँच कर अपने दन्तशूलों से पहाड़ में टक्करें लगाता है तो बताओ किसके दांत टूटते हैं? किसके होश ठिकाने लगते हैं?

मेंढक तभी तक फुदकता फिरता है जब तक कि उसे नाग-राज के दर्शन नहीं होते। कंस का अभिमान भी तभी तक कायम रह सकता था, जब तक कि श्रीकृष्णजी का आविर्भाव नहीं हुआ था।

मृग तभी तक उछलता फिरता है और चौकड़ी भरता है, जब तक उसे वनराज के दर्शन नहीं होते। कंस का अभिमान भी तभी तक कायम रह सकता था जब तक कि कृष्ण वासुदेव का आविर्भाव नहीं हुआ।

चन्द्रमा तब तक ही प्रकाशमान रहता है, जब तक भुवन-भास्कर सूर्य देव का उदय नहीं होता !

इसी को समयचक्र का परिवर्त्तन कहते हैं । भाई ! हर्ष और विषाद का जोड़ा है । जो सूर्य प्रातः काल उदित होता है, संध्या समय उसे अस्त होना पड़ता है । कहा हैः—

ऊगे सो तो आथमै, फूले सो कुम्हलाय ।
जनमे सो निश्चय मरे सरे, कौन अमर हो आय ।।

पतिव्रता बालक और मुनि जो बात कह देते हैं, वह एका एक निष्फल नहीं होती । यह बात सारा संसार जानता है ।

राजा कंस ने वसुदेव और देवकी को कितना कष्ट पहुँचाया, इस कथा का अगर वर्णन किया जाय तो आपको रोमांच हो जाय !

हमारे यहाँ भारत में पहले मुगल बादशाहों का शासन था । जब एक बादशाह ने गुरु तेगबहादुर आदि को, धर्मान्ध होकर तलवार के घाट उतारा तो उनकी बादशाहत भी मिट्टी में मिल गई ।

जालिमों को न कभी फूलते फलते देखा,
बल्कि दम उनका बुरी तरह निकलते देखा ।।
कल जो गुल नोशों के सर इतराते थे,
आज पैरों से उन्हें हमने कुचलते देखा ।।

जब जुल्मी जुल्म करने से बाज नहीं आता तो उसका चचा भी कोई न कोई आगे आ जाता है।

महारानी देवकी की कुक्षि में हरि का आगमन हुआ। उनके आने से पूर्व देवजी को सात महास्वप्न दिखलाई दिये। माता देवकी ने सिंह, सूर्य, चन्द्रमा, गज, अग्निशिखा और ध्वजा आदि स्वप्न में देखे। सातवें स्वर्ग से अवतरित होकर श्रीकृष्ण देवकीजी के गर्भ में आये उन्होंने अपने आगमन से पहले, स्वप्नों के रूप में मानों अपने आगमन की सूचना दे दी।

जगत् को सूचना दे दो कि अब भगवान् आते हैं।
जमीं पर कृष्ण बन कर आज हरि मेहमान आते हैं॥

महारानी की नींद खुली। स्वप्नों का स्मरण करके उनके हृदय में आह्लाद और उल्लास उत्पन्न हुआ। वह उसी समय अपनी शय्या से उठकर वसुदेवजी के पास पहुंचीं और प्रसन्नता-पूर्वक, विनय के साथ कहने लगीं, नाथ ! आज मैंने सात महा-स्वप्न देखे हैं। जान पड़ता है, कोई विशिष्ट शक्तिशाली महापुरुष आना चाहता है। स्वामिन् ! मैं छह--छह पुत्रों का प्रसव कर चुकी, परन्तु हम लोगों के देखते-देखते भाई (कंस) ने उनके प्राण ले लिये। आपका और मेरा कुछ भी जोर न चल सका !

इतना कहते-कहते देवकी का कठ रुक गया। वह रोने लगी। आगे बोलने में असमर्थ हो गई।

पूर्वकथा-प्रसंग

जब देवकी का विवाह हुए ज्यादा दिन नहीं हुए थे, उस

समय की बात है। कंस के छोटे भाई एवंताकुमार (अतिमुक्तक-कुमार) साधु के वेष में, आहार-पानी लेने के लिए कंस के महल में पधारे। वे एक महीने में एक ही बार आहार ग्रहण करते थे। वह दिन उनके पारणा का दिन था।

एवंताकुमार छोटे थे तब उन्होंने देखा कि उनके बड़े भाई कन्स ने पिता को कारागार में कैद कर दिया है और आप राजा बन बैठा है! कस का यह अमानुषिक अत्याचार उन्हें सहन नहीं हो सका। मगर वह विवश थे। सत्ता कंस के हाथ में थी और एवंताकुमार उसे सही राह पर लाने में समर्थ नहीं थे। ऐसी स्थिति में उन्होंने कंस के साथ असहयोग कर देना ही उचित समझा। वे अत्याचारी के शासन में रहना अयोग्य समझ कर साधु हो गए।

इस प्रकार मुनि बने हुए एवंताकुमार जब लौट कर वापिस जाने लगे तो कंस की पत्नी ने द्वार रोक कर उनसे कहा--देवर! क्या तुम बाबाजी बन गये? तुम क्षत्रियपुत्र होकर घर-घर भीख माँगते फिरते हो! जानते हो, इससे हमारी ख्याति में कितना बट्टा लगता है? कौवा और कुत्ता भी मेहनत करके पेट पाल लेता है और तुम मनुष्य होकर भी पेट पालने के लिए श्रम नहीं कर सकते? सम्भव है, तुम्हारी लज्जा नष्ट हो गई हो, आत्मा गिर गई हो, परन्तु हमें क्यों लजाते हो? हमारी आत्मा तो गिरी नहीं है। भलाई इसी में है कि घर लौट आओ और गृहस्थ बन कर रहो। भिखमंगी का यह धन्धा कुलीन पुरुषों को नहीं सोहता!

रानी के यह कठोर और अज्ञानमय वचन सुनकर भी एवंता-कुमार मुनि शान्त रहे। उन्होंने बाहर जाने देने के लिए रास्ता

छोड़ देने का आग्रह किया, किन्तु रानी टस से मस नहीं हुई। जब काफी समय हो गया तो मुनि के मन में रोष का भाव उत्पन्न हुआ। उन्होंने अपने ज्ञान से जान कर कहा—रानी! घमण्ड मत करो। अपनी कुलीनता और राज्यविभूति के मद में चूर होकर विवेकहीन मत बनो। यह अभिमान ज्यादा दिनों तक नहीं ठहर सकता। तू जिस सौभाग्य पर इतरा रही है, वह समाप्त होने को तैयार है। तुझे शीघ्र ही कौने में बैठ कर रोना पड़ेगा। याद रखना, जिस देवकी के साथ तू क्रीड़ा कर रही है, उसी का सातवां पुत्र तेरे पति को परलोक पहुंचाएगा। अब हट जा मेरे सामने से!

जंगल में बहुत बिल होते हैं, सब में लकड़ी मत डालो। याद रक्खो सब में चूहे नहीं होते। न मालूम किस में से काला नाग निकल आवे और आपको लेने के देने पड़ जाएँ!

मुनि के तेज के सामने रानी ठहर नहीं सकी। वह एक ओर हट गई और मुनि चल दिये।

मुनि के चले जाने पर उनकी कही बात पर विचार करके वह काँप उठी। अपने दुर्भाग्य की कल्पना उसके मष्तिष्क में मूर्त्तिमती हो उठी। वह अपने आपको सम्भाल न सकी। अन्तर-तर की व्यथा नेत्रों के द्वार से बाहर उमड़ पड़ी।

कंस के आने पर मुनि द्वारा की हुई भविष्यवाणी रानी ने उसे सुनाई। कंस बोला—तुमने महात्मा को छेड़ा ही क्यों? लेकिन अब चिन्ता करने से कोई लाभ नहीं होगा। मैं ऐसी

व्यवस्था करूँगा कि मुनि की भविष्यवाणी झूंठी हो जाय। मेरी शक्ति भी क्या कम है ? तुम निश्चिन्त रहो।

आखिर वसुदेव को डरा धमका कर कंस ने देवकी के सातों गर्भ मांग लिये। जब देवकी को इस बात का पता लगा तो उसकी व्यथा का कोई पार न रहा।

\+ \+ \+

भद्दिलपुर में, जिसे सम्भवतः आजकल भेलसा कहते हैं, एक सेठ रहते थे। उनकी धर्मपत्नी सुलसा ने किसी निमित्तवेत्ता को अपना हाथ दिखलाया। हाथ देख कर वह किंचित् विषाद के साथ चुप रह गया। जब सुलसा ने उसके विषाद का कारण पूछा तो वह बोला—देवी ! तुम्हारे हाथ की रेखाएँ बतलाती हैं कि तुम्हारे छह पुत्र होंगे, किन्तु वे सब मृतक ही होंगे।

निमित्तवेत्ता की बात सुनकर सुलसा बहुत दुःखी हुई। आखिर उसने हरिणगमेषी देवता की आराधना की। देव प्रसन्न हुआ और सुलसा के समक्ष उपस्थित हुआ। सुलसा ने अपना रोना रोया। देवता ने कहा—मृतक बालकों को जीवित कर देना हमारी सामर्थ्य से बाहर है। अलबत्ता एक उपाय हो सकता है। जिस समय तुम्हार उदर से पुत्रों का प्रसव होगा, उसी समय वसुदेव की रानी देवकी भी पुत्रों का प्रसव करेंगी। उन पुत्रों को में अलक्षित रूप में तुम्हारे पास पहुंचा दूँगा और तुम्हारे मृतक पुत्र उनके पास भेज दूँगा।

सुलसा इसके लिए तैयार हो गई। इस प्रकार दोनों के पुत्रों की अदला बादली होती रही।

कंस की प्रसन्नता का पार नहीं। वह अपने प्रभाव को ही इसका कारण समझ कर फूला नहीं समाता। कहता है-देखा मेरे तेज को! मेरे डर से देवकी के बच्चे गर्भ में ही मर जाते हैं!

इस प्रकार देवकी के छह पुत्र भद्दिलपुर चले गये। बड़े लाड़ प्यार के साथ वहाँ उनका पालन पोषण हुआ। उनके पश्चात् सातवें गिरिधारी आते हैं। सातवीं वार गर्भवती होने पर देवकी ने बड़ी ही गम्भीर व्यथा के साथ वसुदेवजी से कहा—अहा! मेरे छह पुत्र मारे गये। अब यह सातवाँ पुत्र आ रहा है। लक्षणों से मालूम होता है, यह अत्यन्त भाग्यशाली और पराक्रमी होगा। इसके प्राण बचाने का प्रत्येक सम्भव उपाय करना होगा। एक भी पुत्र बच गया तो हम सन्तोष मान लेंगे, अपना नाम भी रह जायगा।

जब देवकी का विवाह हुआ था, उस समय दहेज में दश गोकुल* गायें, नन्द अहीर और यशोदा, यह सब मिले थे। यह भी तय हुआ था कि इस भूमि में जो पहुंच जायगा, वह निर्भय है। नन्द वहां राजा की भ ति रहता था।

एक बार देवकी और यशोदा का मिलाप हुआ। दोनों में खूब प्रेम-पूर्ण बातें हुई। बातचीत के सिलसिले में देवकी की आंखों से आंसू बहने लगे। यह देख कर यशोदा का भी गला भर आया। उसने पूछा—बहिन! तुम्हारे रोने का क्या कारण है?

'कुछ नहीं बहिन, अपने भाग्य को रोती हूँ' देवकी ने कहा।

*दस हजार गायों का एक गोकुल होता है।

तब यशोदा ने आत्मीयता का परिचय देते हुए कहा—क्या मुझे गैर समझती हो ? अपने दुख में मुझे साथिनी नहीं बनाओगी तो मेरे प्रति स्नेह होने का सबूत ही क्या होगा ?

तब देवकी बोली - क्या बतलाऊँ बहिन ! मेरे ६-६ पुत्र हुए, मगर दुष्ट कंस ने एक को भी नहीं छोड़ा । इस बार सातवां गर्भ है । अब न जाने क्या होनहार है !

तब यशोदा ने कहा—चिन्ता मत करो । मैं भी गर्भवती हूँ । मेरे सन्तान होगी तो वह गायें चराने के सिवाय और क्या करेगी ? फिर तुम्हारी भी तो मेरी ही सन्तान होगी । इसलिए तुम अपना पुत्र मेरे यहाँ किसी युक्ति से भेज देना और मैं अपनी सन्तान तुम्हारे पास भेज दूंगी । इस उपाय से तुम्हारा लाल कंस के हाथों मरने से बच जायगा ।

यशोदा का हृदय कितना विशाल है ! उसका उत्सर्ग कितना महान् है ! देवकी के सुख के लिए अपनी प्राणप्रिय संतति को काल के हाथ में सौंप देने से बढ़ कर उदारता और क्या हो सकती है !

भाइयों ! यशोदा के चरित से कुछ सीखो । दूसरों के दुःख को दूर करने के लिए अगर कुछ त्याग करना पड़ता है तो पीछे न हटो ।

देवकी रानी का गर्भ दिनों दिन बढ़ने लगा । चार मास व्यतीत होने पर देवकी को दोहद हुआ कि दुष्ट का दमन करूँ और सिंह से खेलूँ । उसी समय वह वसुदेवजी की तलवार उठा

कर उसमें अपना मुँह देखने लगी। इसके बाद तलवार हाथ में लेकर बाहर निकलने को तैयार हुई। उसी समय वसुदेवजी वहां आ पहुँचे। उन्होंने देवकी को समझाते हुए कहा—परिस्थिति का विचार करो। तुम्हारे इस व्यवहार से गर्भस्थ बालक को हानि पहुंचेगी। उसका भविष्य संकटपूर्ण बन जायगा। धैर्य धारण करो !

देवकी वीररस में डूबी थी। उसने कहा—मैं इस तलवार से दुष्ट कंस का कण्ठ काट कर उसका मुकुट उड़ा दूंगी।

मगर वसुदेवजी ने फिर कहा—कंस का गला काटने वाले की रक्षा कर लोगी तो कंस का गला कटा ही समझो। उसके जिम्मे का काम तुम स्वयं करना चाहती हो, यह अनाधिकार व्यापार है।

इतना कह कर वसुदेव ने देवकी को भुजाओं में कस कर पलंग पर बिठला दिया।

राजा कंस को जब सूचना मिली कि देवकी गर्भवती है तो वह सतर्क हो गया और उसने देवकी-वसुदेव के निवास के चारों ओर पहरा लगा दिया। इस बार कंस बहुत सावधान था, क्योंकि उसे इसी सातवें पुत्र से भय था।

खाँसी, कस्तूरी, दोस्ती, खुजली, प्रीति और गर्भ छिप नहीं सकते। कंस ने भवन के दरवाजों पर शेर के पींजरे रक्खे, जिससे कोई बाहर न निकल सके और उनके पीछे बहादुर सिपाहियों का पहरा बिठा दिया। 'प्रेमसागर' में तो यहां तक कहा है कि कंस

ने देवकी के हाथों में हथकड़ियां और पैरों में बेड़ियां भी डाल रक्खी थीं। देवकी नमस्कार मन्त्र का जाप करती और प्रभु से प्रार्थना करती थी कि—हे प्रभो! किसी प्रकार मेरे पुत्र की रक्षा हो!

कंस दिन--रात यही सोचा करता था कि कब देवकी के बालक का जन्म हो और कब मैं उसके प्राण लेकर निश्चिन्त होऊँ! परन्तु बिल्ली के कहने से ही क्या छींका टूटता है? हरि का जब जन्म होगा तो उनके पुण्य प्रताप से किसी की कुछ भी नहीं चलने वाली है।

निन्यानवें लाख मासखमण को तपश्चर्या करने वाले पुरुषोत्तम कृष्ण अवतरित होने वाले हैं! कोई साधारण व्यक्ति नहीं आ रहा है! उसकी तपश्चर्या के असाधारण तेज के सामने कंस की समस्त सावधानी वृथा है! मगर अज्ञानी कंस पर्वत से सिर टकराने को तैयार हो रहा है!

भाद्रपद महीने के कृष्ण पक्ष की अष्टमी के रात्रि आई। बुधवार का दिन और रोहिणी नक्षत्र था। उस दिन तूफानी हवा चल रही थी। पानी की झड़ी लग रही थी। मेघ गर्जना कर रहे थे। चारों ओर घोर अन्धकार व्याप्त था। ऐसा जान पड़ता था, मानों प्रलयकाल आ उपस्थित हुआ हो और सचमुच कंस के लिए यह प्रलयकाल ही था!

उसी समय श्रीकृष्णजी का जन्म हुआ। देवकी ने कांपते हुए हृदय से और दबी जबान से वसुदेवजी से कहा—आप जाग रहे हैं? जरा देखिए तो सही, कितना सुन्दर बालक उत्पन्न हुआ

है ! वसुदेवजी पास आये। उन्होंने कृष्ण को देखा और गद्गद् हो गये। देवकी ने कहा—किसी भी मूल्य पर बालक की प्राण-रक्षा करनी है। इसे कृपा करके यशोदा के घर पहुँचा दीजिए।

वसुदेव नवजात बालक को गोद में लेकर ज्यों ही तैयार हुए कि उनका हृदय उत्साह और साहस से परिपूर्ण हो गया। उन्होंने देखा- शेर सो रहे हैं और पहरेदार भी बेहोश पड़े हैं। द्वार खुले हैं ! महापुरुष की रक्षा के लिए उसके प्रबल पुण्य ने आकर मानों सारी अनुकूल व्यवस्था कर दी है !

इन सब अनुकूलताओं से लाभ उठाते हुए वसुदेव बाहर निकल पड़े। गोद में कृष्ण को लेकर, बाजार में होते हुए, वे जब शहर के फाटक पर पहुंचे तो देखा कि फाटक में ताले जड़े हैं ! क्षण भर के लिए वसुदेव निराश हो गये। उन्होंने देखा-इस फाटक को पार करना असम्भव है और सारी योजना मिट्टी में मिल जाने को है ! मगर अधिक देर नहीं लगी। आकाशवाणी उनके कानों में पड़ी-हरि का अंगूठा तालों को लगाओ। ताले झड़ जाएँगे। वसुदेवजी ने ऐसा ही किया और ताले टूट गये।

वसुदेवजी शीघ्रता के साथ नगर के बाहर जा पहुंचे। आगे बढ़े तो यमुना आड़ी आई। यमुना में बाढ़ आ रही थी। पार करना असम्भव प्रतीत हुआ। परन्तुः -

हरि करे सो खरी।

वसुदेव को अब तक की घटनाओं से विश्वास हो चुका था कि बालक का प्रभाव असाधारण है और हर हालत में इसके

प्राणों की रक्षा होनी है। अतएव उन्होंने बाढ़ की परवाह न करके यमुना में प्रवेश किया ! वह दो-चार डग बढ़े ही थे कि पानी कृष्ण के पैरों को छुआ। उसी समय पानी फट कर इधर-उधर हो गया और रास्ता बन गया। वसुदेव अब निश्चिन्त थे। उनकी उस समय की प्रसन्नता का कोई महाकवि भी वर्णन नहीं कर सकता।

वसुदेवजी सीधे नन्द के घर पहुँचे और उसका द्वार खट खटाया। यशोदा समझ गई। उसने धीमे स्वर से कहा द्वार खोल दीजिए। द्वार खुला और वसुदेवजी ने नन्द के घर में प्रवेश किया और बालकृष्ण को यशोदा की गोदी में रख दिया। यशोदा बालक को देख कर मानों पागल हो उठी। उसने बड़े ही प्यार से कृष्णजी को छाती से लगा कर पुचकारा। कृष्णजी की अनुपम रूप राशि देख कर वह निहाल हो गई। फिर उसने वसुदेव से कहा—जाइए, क्षण भर का विलम्ब भी इस समय संकट जनक हो सकता है। शीघ्र लौट जाइए और इस कन्या को लेते जाइए। बालक की चिन्ता न करना। यह मेरे ही हृदय का टुकड़ा है !

यशोदा की बात सुनकर नन्द चकित रह गये। बोले-अरी, यह क्या कर रही है ? यशोदा बोली—क्यों, क्या यह सौदा महँगा है ? लड़की देकर लड़का, और फिर ऐसा अद्वितीय लड़का, लेना क्या घाटे का सौदा है ?

आखिर वसुदेवजी लड़की को लेकर देवकी के पास लौट आये। उस समय तक सब पहरेदार गाढ़ी नींद में सो रहे थे। किसी को पता न चला कि तीन खण्ड का नाथ अवतरित हो चुका है और सुरक्षित स्थान पर पहुंच चुका है !

थोड़ी ही देर हुई थी कि लड़की रोने लगी। उसके रोने की आवाज सुनकर पहरेदारों की निद्रा भङ्ग हुई। जिस क्षण के लिए यह सब पहरे की व्यवस्था थी, वही क्षण आ पहुंचा। सब सजग और सावधान हो गये और सतर्कता के साथ अकड़ कर पहरा देने लगे।

उसी समय कंस को समाचार पहुँचाया गया। कंस भी घबराया हुआ आया। उस समय उसे ऐसा लगता था, मानों अपनी मृत्यु पर विजय प्राप्त करने के लिए वह जा रहा हो! पर यह क्या! जब उसने देवकी के पास पहुंच कर देखा कि लड़का नहीं, लड़की जनमी है तो वह अट्टहास कर उठा! कहने लगा—साधु भी झूठे होते हैं? यह बालिका बेचारी कर ही क्या सकती है!

भाइयों! मद और मोह के प्रभाव को देखो और पुण्य के प्रभाव का भी विचार करो। तुम अपनी और अपनी सन्तान की रक्षा करने के लिए सैंकड़ों उपाय करते हो, परन्तु यह सोचो कि असल में रक्षा करने वाला कौन है? बालक कृष्ण की रक्षा किसने की? वास्तव में पुण्य से ही रक्षा होती है। वसुदेव की क्या शक्ति थी जो कृष्ण की रक्षा कर सकते! परन्तु कृष्ण के अपरिमित पुण्य ने सहज ही अपनी रक्षा कर ली। वसुदेव तो निमित्त मात्र थे। यह सोच कर पुण्य का संचय करो। पुण्य के सिवाय रक्षा करने वाला और कोई नहीं है।

कंस मद में चूर होकर कहता है-लड़की के रूप में मेरी मौत तलवार से कटने आई है! आज मैं अपनी मौत को मार कर अमरत्व प्राप्त करूँगा।

दूसरे लोगों ने कहा—वीर क्षत्रिय बूढ़े, रोगी, स्त्री और शरणागत पर हाथ नहीं उठाते। ऐसा करना क्षत्रियधर्म से प्रतिकूल है। यह वीरता का अपमान है। फिर यह तो नवजात कन्या है! इस पर तलवार चलाना आप जैसे वीर के लिए शोभा की बात नहीं है।

कंस ने कहा—अच्छी बात है। मैं इसे छोड़ देता हूँ।

'प्रेमसागर' में बतलाया गया है कि कंस ने उस कन्या को पछाड़ दिया, परन्तु वह कन्या बिजली की भाँति आकाश में उड़ गई और कहती गई—रे दुष्ट तुझे मारने वाला तो कभी का पैदा हो चुका है।

कंस अब निश्चिन्त हो गया। उसने अब निर्भय होकर और अधिक अत्याचार करना आरम्भ कर दिया। इस प्रकार उसके पापों का घड़ा पूरा भर गया।

उधर नन्द के घर आनन्द मनाया जाने लगा। मंगल-वाद्य बजने लगे। गोकुल की नारियां हर्षविभोर होकर गाने और नाचने लगीं। ग्वाल-बाल आनन्द मनाने लगे। सर्वत्र हर्ष, उल्लास और उत्साह दिखलाई पड़ने लगा। जिस किसी ने भी बालकृष्ण का मोहन-मुखड़ा देखा, निहाल हो गया। वह फूला नहीं समाया।

भाइयों! देखो कर्म की विचित्र गति को! साधारण घर में बालक का जन्म होता है तो भी फूल की थाली बजती है, बन्दूकें छूटती हैं। मगर कृष्ण जैसे असाधारण पुरुष का जन्म होने पर भी मथुरा में थाली तक नहीं बजती!

कृष्णजी चन्द्रमा की कला की भाँति प्रतिदिन बढ़ने लगे। यशोदा के हर्ष का क्या कहना है! वह बालक में भूली सी रहती है। कृष्णजी को सुन्दर पालने में सुलाती है, झुलाती है, कभी कभी नाचती और गाती है और कभी बलैयां लेती है। इस प्रकार एक महीने के लगभग हो गया। देवकी का हृदय अपने प्राण प्रिय शिशु को देखने के लिए छटपटाने लगा। वह वसुदेवजी से कहने लगी-मैंने एक बार भी अपने लला का मुँह नहीं देखा। मैं तो गोकुल जाऊँगी।

आखिर देवकी वत्स द्वादशी पूजने के बहाने यशोदा के घर पर जाती है। बहुत सावधान होकर, चौकन्नी होकर यशोदा के घर में प्रवेश करती है और श्रीकृष्ण को देखने के लिए उत्कंठित हो उठती है। कहते हैं-देवकी ने ही वत्स द्वादशी चलाई थी।

देवकी ने यशोदा के घर में प्रवेश करके कहा—हे यशोदा, तेने बड़ा ही सुन्दर बेटा जाया है। ला, मैं भी इसे खिला लूँ। और चट से उसे अपनी छाती से लगा लेती है। यशोदा मुस्किरा उठती है।

समय बड़ा बलवान् है! आपके बच्चे को कोई दूसरे का बच्चा कह दे तो आपको कितनी मार्मिक वेदना हो? लेकिन समय के प्रभाव से आज देवकी स्वयं अपने हृदय के टुकड़े को यशोदा नन्दन बतला रही है! उसके हृदय की पीड़ा को कौन अनुभव कर सकता है? अनुभव क्या, उस पीड़ा की सही कल्पना करना भी कठिन है!

देवकी, कृष्ण को बार-बार चूमती और पुचकारती है।

ऊपर-नीचे उठाती है। उसका हृदय गद्गद हो जाता है। आंखों से हर्ष के आंसू बहने लगते हैं और वात्सल्य के आधिक्य के कारण स्तनों से दूध झरने लगता है! देवकी की काँचली दूध से भीग जाती है!

कृष्णजी के वक्षस्थल पर स्तन के चिह्न नहीं थे। स्तन-चिह्नों के स्थान पर स्वस्तिक के निशान बने थे। उनका ललाट चन्द्रमा के समान देदीप्यमान और विशाल था। उनके हाथ चूड़ी उतार थे। देवकी ने जी भर कर प्यार किया। फिर कहने लगी:-

सज्जन जन का हार हृदय का,
दुर्जन का हो काल।
तुम-हम वंश का यह उजियाला,
ऐसा हो नन्दलाल ॥

देवकी फिर कहती है:--

दूध दही नवनीत यशोदा! रोज खिलाना।
हाथों हाथ रमाना इसको कभी नहीं रुलवाना ॥

अन्त में आशीर्वाद देती हुई कहती है:--

रहो चिरंजी लाल सांवरा, श्री नन्द के लाल।
दुर्जन भंजन सज्जन-रंजन, यदुवंशी-प्रतिपाल।

इस प्रकार अपने आन्तरिक भावों का स्रोत बहा कर, मन मसोस कर, विवश देवकी फिर मथुरा में आ गई ।

इसके बाद केड़ा चौथ, कुंवारी पांचम आदि के बहाने वह बार-बार गोकुल में आती है और अपने नेत्रों की तृषा शान्त कर जाती है । परन्तु यह सब होता है, छिपे-छिपे । देवकी भय के कारण अपने आनन्द को व्यक्त नहीं कर सकती ।

भाइयों ! कृष्णजी के जीवन की महिमा बहुत विशाल है । उन्होंने अपने बाल जीवन में, जो-जो आश्चर्यजनक काम कर दिखाये, उनका वर्णन करना भी कठिन है । इतना समय नहीं कि उन सब का साधारण उल्लेख भी किया जा सके । कृष्णजी की प्रशंसा से ग्रंथ के ग्रंथ भरे पड़े हैं । तीन खण्ड के नाथ श्रीकृष्ण वासुदेव के जीवन का निचोड़ अगर देखना चाहें तो वह यही है कि अन्याय और अनीति का विनाश करना और नीति की प्रतिष्ठा करना । उनका शत्रु तभी तक शत्रु था जब तक कि वह अनीति की राह पर चल रहा हो । उसने अनीति त्यागी और क्षमायाचना की कि बस, उसे क्षमा कर दिया । फिर वे उस पर वैरभाव नहीं रखते थे । यह उनके जीवन की उदारता सब को सीखनी चाहिए ।

भाइयों ! आज श्रीकृष्णजी का जन्म–दिवस है । अन्तगडसूत्र में प्रारम्भिक पाँच वर्गों में यदुवंशियों का ही वर्णन है । अन्त-गडसूत्र पर्युषणपर्व के अवसर पर सुनने को मिलेगा । आज कृष्णजन्म का ही वर्णन किया है । उनके जीवन पर प्रकाश नहीं डाला जा सका । मगर उनके जीवन की बहुत-सी घटनाएँ

प्रसिद्ध हैं। उनसे कृष्णजी की निर्भयता और साहसिकता का पता चलता है। आप लोग नीति की प्रतिष्ठा के लिए निर्भय और साहसशील बनेंगे तो कृष्णजी की जीवनी को सुनना सार्थक होगा। आपका जीवन भी आनन्दमय बन जायगा।

३०-८-४५ }

महाचाण्डाल-क्रोध

स्तुति :-

स्वर्गापवर्गगममार्गविमार्गणेष्टः,
सद्धर्मतत्त्वकथनैकपटुस्त्रिलोक्याम् ।
दिव्यध्वनिर्भवति ते विशदार्थसर्व—
भाषास्वभावपरिणामगुणैः प्रयोज्यः ।

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं कि—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त शक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन् ! आपकी कहां तक स्तुति की जाय ? हे प्रभो ! आपके कहां तक गुण गाये जाएं ?

प्रभो ! आपकी दिव्यध्वनि स्वर्ग और मोक्ष का मार्ग बत-लाने वाली है, समीचीन धर्म का मर्म प्रकट करने में अत्यन्त दक्ष

है और उसकी सब से बड़ी विशेषता तो यह है कि वह समस्त भाषाओं के रूप में परिणत हो जाती है। अर्थात् देव, मनुष्य आदि सभी विभिन्न भाषाभाषी श्रोता आपकी दिव्यध्वनि को अपनी-अपनी भाषा के रूप में समझ लेते हैं। यह भगवान् का आठवाँ अतिशय है।

स्वर्ग, नरक, मनुष्य और तिर्यञ्च गति में गाया हुआ जोव फिर जन्म ग्रहण करता है, किन्तु अपवर्ग जाने वाला जीव वापिस नहीं आता। उसे फिर कभी जन्म-मरण के चक्कर में नहीं पड़ना पड़ता। इस विषय में गीता में कहा है—

यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद् धाम परमं मम।

अर्थात्- जहाँ जाने पर फिर आना नहीं होता, वही मेरा स्थान है—वही परमात्मा का परम धाम है।

भगवान् ऋषभदेव की वाणी पीयूष की भाँति अमरत्व प्रदान करने वाली है। उन भगवान् का वर्णन भागवत पुराण के पांचवें स्कंध में भी आया है। भगवान् ऋषभदेव अखिल आर्य-जाति के पूजनीय और वंदनीय महापुरुष हुए हैं। ऐसे भगवान् ऋषभदेवजी को हमारा बार-बार नमस्कार हो।

भाइयों! समस्त ज्ञानी पुरुषों ने एक स्वर से यही कहा है कि आत्मा अपने द्वारा आचरित अशुभ कर्मों से मलीन होती है। पाप-कर्म आत्मा को गिराने वाले हैं। जैसा कि कल और परसों बतलाया गया है, पाप के अठारह भेद हैं। इन पापों का जिन्होंने परित्याग किया, उनकी आत्मा उज्ज्वल हो गई। मगर

खेद है कि संसारी जीव अनादि-कालीन संस्कारों से प्रेरित होकर पापों में परायण रहते हैं। आज विजयकुमार और विजयाकुमारी के समान ब्रह्मचर्यपरायण महात्मा कहाँ हैं? जम्बूकुमार के सदृश प्रगाढ़ वैराग्यवान् और महाब्रह्मचारी कहां हैं? अगर इनका वर्णन करने बैठें तो महीनों लग जाएँ।

सती य न सीता सारखी,
रती य न राम समान।
जती य न जम्बू सारखा,
गती य न मोक्ष समान॥

सीता सरीखी सती संसार में कितनी हैं? राम के समान लोकप्रिय एवं सुन्दर संसार में कितने मर्यादा-पुरुष हुए? जम्बू-कुमार जैसे विनीत यति कहां? और मोक्ष के समान दूसरी गति नहीं है।

बहिनों! भाइयों! और महासतियों! उक्त आदर्श को तुम अपने सामने रक्खो। बहिनों! तुम सीता का आदर्श ग्रहण करो। भाइयों! तुम राम को अपना आदर्श बनाओ। साधुओं! तुम्हारे समक्ष जम्बूकुमार का आदर्श रहना चाहिए और सतियो! तुम जम्बूकुमार की सती बनी हुई पत्नियों को अपना आदर्श मानो। प्रतिदिन उनका स्मरण करो और उनके जीवन-पथ पर चलने का संकल्प करो और चलने का प्रयत्न भी करो। इससे तुम्हारा जीवन धन्य हो जाएगा। तुम्हारी आत्मा का कल्याण हो जायगा।

पर इस सम्बन्ध में एक बात सदैव स्मरण रखनी चाहिए। वह यह है कि जब तक तुम्हारे अन्त:करण में आसक्ति की अति मात्रा विद्यमान रहेगी, तब तक तुम उनके पथ का अनुसरण करने में समर्थ न हो सकोगे। आसक्ति, मोह या ममता का भाव, चाहे वह शरीर के प्रति हो, भोगोपभोगों के प्रति हो या धन-सम्पत्ति अथवा कुटुम्ब-परिवार के प्रति हो, विपत्ति का ही कारण है। ममता संताप की जननी है। उससे कभी किसी को शान्ति नहीं मिली और न मिल ही सकती है।

ममता के कारण ही जीव चतुर्गति रूप संसार में भ्रमण करता रहता है। ममता को मारने के लिए समता की आवश्यकता है।

वर्णमाला में ३२ अक्षर हैं। उनमें से एक अक्षर नरक का विरोधी है और दूसरा मोक्ष का विरोधी है। वह दो वर्ण हैं—'द' और 'ल'। दान दो, वस्त्र दो, मकान दो और अभय दो—यह सब नरक के विरोधी हैं और 'लाओ, लाओ' मोक्ष का विरोधी है। अर्थात् धन लाओ, स्त्री लाओ वस्त्र लाओ, इस 'लाओ' की लालसा से मोक्ष का विरोधी होता है। परन्तु—

लल्ला से चित लग रहा, दद्दा से रहे दूर।

आज कल तो देने का नाम नहीं. लेने की ओर ही लोगों की चित्तवृत्ति लगी दिखाई देती है। यही मूर्छा हैं, यही परिग्रह है। यह पांचवां पाप है।

छठा पाप क्रोध है। क्रोध क्या है? इच्छा के प्रतिकूल

परिस्थिति उत्पन्न होने पर अन्तःकरण में जलन उत्पन्न होना, रोष का भाव उदित होना। यह क्रोध भीषण अनर्थों का मूल है। गीता में कहा है:—

क्रोधो मूलमनर्थानां, क्रोधः संसारवर्द्धनः।
धर्मक्षयकरः क्रोधः, तस्मात् क्रोधं विवर्जयेत् ॥

अर्थात्-क्रोध अनर्थों का मूल है, क्रोध संसार को बढ़ाने वाला है, क्रोध से धर्म का नाश हो जाता है। अतएव क्रोध का परित्याग कर देना ही उचित है।

क्रोध से तपस्वी की तपस्या छिन्न भिन्न हो जाती है। जैसे हलुवे में कपूर की धूनी दे दी जाय, कलाकद में संखिया डाल दिया जाय तो बताओ क्या वह खाने योग्य रहेगा? उसी प्रकार तप और त्याग में यदि क्रोध का मेल हो जाय तो सारी तपस्या व्यर्थ हो जाती है। क्रोधी अपनी तपस्या पर पानी फेर देता है।

जिस प्रकार पानी की तह में जमे हुए कीचड़ को हाथ डाल कर हिला दिया जाय तो निर्मल जल भी मैला हो जाता है, इसी प्रकार क्रोध के कारण समझदार आदमी भी क्षण भर में मूर्ख बन जाता है।

क्रोध संसार-भ्रमण की वृद्धि करने वाला और धर्म की हानि करने वाला है। क्रोध से ज्ञान, ध्यान, धम आदि मलीन बन जाते हैं।

भाइयों! आप मिठाई खाना छोड़ सकते हैं, माल-मसाला

खाना भी त्याग सकते हैं, परन्तु क्रोध करना नहीं त्याग सकते। बतलाओ तो सही, इसमें आपको क्या मजा आता है ? क्रोध में क्या स्वाद है ? क्या मिठास है ?

क्रोध बहुत बुरा दुर्गुण है। यह अकेला ही दुर्गण समस्त सद्गुणों को नष्ट करने वाला है। यह नरक का द्वार है। जिसने इस दरवाजे में प्रवेश किया, उसे नरक में पहुँचते देर नहीं लगती। संसार के समस्त महात्मा पुरुषों ने एक स्वर से क्रोध की निन्दा की है। किसी भी धर्म के ग्रंथ को देखो, क्रोध को सभी त्याज्य बतलाते हैं।

कुरान में गुस्से को 'हराम' कहा है। फिर भी इससे बड़ी मुहब्बत पाली जाती है ! घर में क्रोधी आ जाय तो लोग कहते हैं—बोलो मत, इस दुष्ट को काला मुँह कर जाने दो ! अन्यथा अभी घर में आग सुलग उठेगी ! क्रोधी को आता देख कर कहा जाता है—काला साँप आया है !

बोलो भाइयों ! किधर जाने की इच्छा है ? नरक की राह जाना चाहते हो या स्वर्ग के रम्य मार्ग पर जाना चाहते हो ? स्वर्ग के मार्ग पर जाना है तो क्रोध की गन्दगी छोड़ देनी होगी।

क्रोध की बदौलत, कई लोग दाल-शाक में नमक कम-ज्यादा होने पर जलती हुई लकड़ी से गृहदेवी की पूजा करते देखे गये हैं।

कांसी कुत्ती कुभारजा, बोलंता गाजंत।
सोना सीसा सुघड़ नर, बोलंता लाजंत॥

क्रोध से बेभान हुई स्त्री अपने बच्चे तक को झिटक कर फैंक देती है। और जब हड्डी टूट जाती है तो वही मूर्ख स्त्री छाती पीट-पीट कर रोती है। मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि क्रोधी का मुँह देखना भी पाप है। भाई, जरा सोचो, समझो, विचार करो और क्रोध रूप पाप का परित्याग करो।

क्रोधी को क्रोध करते समय आपने अवश्य देखा होगा। उसका चेहरा लाल होकर तमतमा उठता है, उसके ललाट पर सलवट पड़ जाते हैं, उसका सारा शरीर थर-थर कांपने लगता है! ऐसा जान पड़ता है जैसे उसे भूत लग गया हो! जैसे राजा की सवारी के आगे-आगे निशान चलते हैं, उसी प्रकार क्रोध रूपी भूत की सवारी के यह सब निशान हैं।

क्रोधी की आंखों में अगारे बरसते हैं। क्रोधी स्वयं उन अंगारों में जलता है और फिर दूसरों को भी जलाता है।

क्रोध महा दुखखान जगत् में,
क्रोध महा दुखखान।

क्रोधी मनुष्य विष का भी भक्षण कर लेता है। पानी में डूब कर मर जाता है। फाँसी लगा कर प्राणों को त्याग देता है। बहुत से लोग क्रोध के कारण देश छोड़ कर विदेश चले गये!

एक आदमी ने क्रोध से पागल होकर जहर खा लिया। जब उसे होश आया तो वह दूसरे के गले से लिपट कर कहने लगा-भाई, जरा डाक्टर को बुला, मुझे बचा! परन्तु जब डाक्टर

आय तो परीक्षा करके बोला—इसका तो टिकट कट चुका ! बचना असम्भव है !

कई औरतें गुस्से में आकर दूसरे के घर में घुस जाती हैं। हमने सुना कि एक औरत गुस्से ही गुस्से में भङ्गी के घर चली गई ! गुस्सा उतरा तो रोई और खूब रोई। पर फिर क्या हो ? हाथ से छूटा तीर फिर क्या हाथ में लौट कर आ सकता है ? फिर तो जिन्दगी भर का पछतावा ही शेष रह गया !

भगवान् महावीर, कृष्णजी, ईसा और मुहम्मद साहब आदि सभी धर्म-प्रवर्त्तकों ने क्रोध को हेय कहा है। चाहे और २ बातों में इनका मतभेद हो, पर इस विषय में तो सभी एक मत होकर कहते हैं - क्रोध भयानक दुश्मन है। क्रोध को छोड़ो, उससे बचो ! अन्यथा बर्बाद हो जाओगे।

क्रोधी का दिल और दिमाग काबू में नहीं रहता। वह दूसरों की हानि चाहे कर पाये अथवा न कर पाये, अपनी हानि अवश्य कर बैठता है। क्रोधी धर्म-अधर्म को गिनता नहीं, भलाई-बुराई को सोचता नहीं और हित-अहित पर ध्यान देता नहीं।

क्रोधी का खून सूख जाता है। उसका शरीर रूक्ष हो जाता है। क्रोधी स्वयं दुखी होकर घर के सब लोगों को दुखी बना देता है। उसका विवेक नष्ट हो जाता है। वह चिड़चिड़ा हो जाता है। वह जो कुछ खाता-पीता है, उसका रस क्रोध की आग में भस्म हो जाता है।

क्रोध इबादत (उपासना) को खाक में मिला देता है।

क्रोध से दोजख (नरक) का पौधा हरा भरा होता है। यह समस्त धर्मकर्म को खाक में मिला देता है।

आचार्य चन्द्र (चण्ड) रौद्राचार्य के उदाहरण पर ध्यान दीजिए। दुर्भाग्य से उन्हें एक नालायक चेला मिला। गुरु बड़े तपस्वी थे और उस दिन उन्हें पारणा करना था। वे रास्ते में जा रहे थे। चौमासे के दिन थे। भिक्षा के लिए आगे-आगे गुरु और पीछे-पीछे चेला जा रहे थे।

साधुधर्म के अनुसार मुनि ईर्यासमिति का पूर्ण रूप से पालन करते हुए चल रहे थे। वे इस बात का पूरा ध्यान रख रहे थे कि उनके पैर के नीचे कोई छोटा-मोटा जीव-जन्तु, वनस्पति अथवा बीज न आ जाय ! साधु इसी विचार से नंगे पैर रहते हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है—

कोई बैठे हाथी घोड़ा, पालकी मंगाय के।
साधु चाले पैयां पैयां चीटियां बचाय के ॥
तुलसी मगन भया हरी गुण गाय के ॥ १ ॥

सावधानी रखते हुए भी कभी--कभी गलती हो जाती है। गुरु का पांव एक सूखी मेंढकी पर पड़ गया। यह देख चेले ने कहा—गुरुजी, आपने बड़ा भारी पाप--कर्म कर डाला है।

गुरु—क्यों ? क्या किया मैंने ?
चेला—आपने मेंढक को मार डाला।
गुरु—कहां ?

चेला—यह देखिए ।

गुरु ने बड़े ध्यान से उस मेंढक को देखा । उसका कलेवर सूखा था । गुरु ने चेले को समझाते हुए कहा—शिष्य ! यह तो सूखा कलेवर है । इतनी जल्दी मर कर सूख नहीं सकता । यह तो पहले से मृतक है ।

चेला—ठीक है महाराज ! आप विद्वान् हैं । इसी कारण उलटी--सीधी बातें कह कर टाल देते हैं, किन्तु आपको प्रायश्चित्त करना होगा ।

गुरुजी शान्त रहे । मगर चेला कब मानने वाला था । उसे आज ही गुरुजी को दोषी ठहराने का मौक़ा मिला था । अतएव वह फिर बोला–गुरुजी, प्रायश्चित्त करना मत भूलना ।

गुरुजी फिर भी शान्त रहे ।

गुरुजी जब पारणा करने को तैयार हुए तो चेला फिर कहने लगा—गुरुजी, पहले प्रायश्चित्त कर लीजिए, फिर आहार-पानी लीजिए ।

गुरुजी ने कहा—प्रायश्चित्त की आवश्यकता होती तो मुझे कहना ही न पड़ता । मैं स्वयं प्रायश्चित्त कर लेता ।

चेला उस समय चुप रहा । सन्ध्या को प्रतिक्रमण करते समय चेले से न रहा गया उसने फिर कहा—गुरुजी, मेंढकी मारने का प्रायश्चित्त करिये न ?

गुरुजी एक देवरी में बैठ कर ईश्वर भजन और आत्म

चिन्तन कर रहे थे। चेला बार-बार उन्हें छेड़ता था। शास्त्र में कहा है:—

मिउं पि चंडं पकरेन्ति सीसा।

स्वभाव से कोमल-हृदय गुरु को भी अविनीत और उदंड शिष्य क्रोधी बना देता है।

वास्तव में दुष्ट शिष्य के साथ रहने से अच्छे से अच्छे आचार्य भी धोखे में आ जाते हैं और अपनी समग्र जीवन-साधना के फल को लुटा देते हैं। अतएव चेला बनाते समय खूब-सोच-समझ से काम लेना चाहिए।

अधिक घिसने से चंदन में से भी आग निकल पड़ती है। चेले ने बार-बार छेड़ा तो शान्तिशील गुरुजी के चित्त में भी क्रोध की आग भड़क उठी। क्रोध ही क्रोध में वे एक दम उठे! उन्हें खयाल न रहा कि देवरी छोटी है। उठते ही उनके माथे में इतनी सख्त चोट आई कि सिर फट गया। उसी समय वे मृत्यु के मुँह में पहुँच गए।

मृत्यु के पश्चात् वे राजगृह के वाहर भयंकर विषधर सर्प के रूप में उत्पन्न हुए। सर्प बड़ा जहरीला था। उसके जहर के कारण आसपास के वृक्ष भी सूख गये। घास भी जल गई। गाय, भैंस, बकरी आदि जो भी पास में होकर निकलता, उसे डँसे बिना न रहता।

वही ऐसा जंगल था, जहाँ से गरीब लोगों की आजीविका चलती थी। काष्ठ, पत्ते, और ईंधन आदि उसी जंगल से मिलते

थे। परन्तु विषधर के कारण अब वहां जाने की किसी की हिम्मत नहीं पड़ती थी। वह वन उजाड़ हो गया। राज्य की ओर से उधर का मार्ग बिल्कुल बन्द कर दिया गया।

भगवान् महावीर ने दीक्षा अंगीकार करके घोर तप का आचरण शुरू कर दिया था। प्रभु ने लोक-कल्याण के निमित्त संसार की मोह ममता का परित्याग कर दिया था। वे विहार करते-करते उसी वन की ओर आ निकले।

दुःख से पीड़ित जीवों की पुकार ही मानों प्रभु ने सुन ली हो, इस प्रकार प्रभु का आगमन हुआ। क्योंकि—

भगवान् भगत के वश में,
होते आये भगवान् भगत के वश में ॥

भगवान् जब उधर आगे बढ़ने लगे तो लोगों ने कहा—महात्मन् ! इस मार्ग से मत जाइये। आगे इस वन में भयानक विषधर सर्प रहता है। उसकी दृष्टिमात्र से मनुष्य मर जाता है। आप इधर न जाइए।

परन्तु महापुरुष ऐसी बातों से भयभीत नहीं होते। वे जानते हैं कि आत्मा अमर है और शरीर सदा टिकने वाला नहीं है। दुखियों का दुख दूर करने में अगर देह काम में आ सकी तो अच्छा ही है, नहीं तो यह व्यर्थ है ! इसका और उपयोग ही क्या है।

भगवान् किसी के रोके न रुके। उन्होंने जाकर चण्डकौशिक

सांप की बाँबी पर ही ध्यान लगाया। पता चलते ही चण्डकौशिक फुँकार मारता हुआ निकलता है। वह सोचता है—आज कौन मूर्ख मरने आया है! उसे क्या पता था कि स्वयं तिरने वाले और उसे तारने वाले का पदार्पण हुआ है। आखिर विषधर बाहर आता है और—

श्री स्वामी के बदन के ऊपर, लिपटाता बल खाता है।
शुभ कर्मों का नाश करे, कुकर्म को क्रोध बढ़ाता है॥

विषधर भगवान् के पैरों में लिपट जाता है और अत्यन्त क्रोधाविष्ट होकर भगवान् के पांव में डँसता है।

परन्तु यह क्या? देखते-देखते नाग भी अनिर्वचनीय आनन्द में डुबकियां लगाने लगा। उसने सोचा—मैंने अब तक हजारों जीवधारियों का रक्तपात किया है। सभी का रक्त खारा था। पर यह रक्त मिश्री-मिश्रित दुग्ध से भी अधिक मधुर और धवल है।

उधर अनन्त करुणा के सागर महाप्रभु महावीर चण्ड-कौशिक पर करुणा के फव्वारे छोड़ रहे थे। इस प्रकार चण्ड-कौशिक की कृष्ण-लेश्या से भगवान् की शुक्ल-लेश्या का युद्ध हुआ! कहावत है—

हारता हरामी है।

आखिर कृष्णलेश्या पराजित होती है। विषधर सोचने लगता है—यह कौन लोकोत्तर महापुरुष है?

'समझ, समझ, चंडकौशिक समझ !' भगवान् ने मधुर और मृदुल कंठ से कहा- तू एक महात्मा था। क्रोध के कारण तू ने यह एक दशा पाई है। अब भी तू नहीं समझता है ! अब भी क्रोध का परित्याग नहीं करता तो तेरी क्या दशा होगी !'

भगवान् की वाणी विश्व का मङ्गल करने वाली होती है।

कहा वीर ने सर्पराज ! तुम पूर्व--जन्म को याद करो।
यों वार--वार क्रोधातुर हो मत जीवन को बर्बाद करो ॥

क्रोध और क्षमा के झमेले में क्षमा की विजय हुई। चण्ड-कौशिक को जातिस्मरण ज्ञान हो गया। उसने अपने कृत्यों के लिए पश्चात्ताप किया। उसने दया-धर्म धारण करके, अपने मुख को वाँबी में डाल कर, भूतकालीन पापों के प्रायश्चित्त के रूप में, आजीवन अनशन-व्रत अङ्गीकार कर लिया।

इधर यह हो रहा था, उधर लोगों ने सोचा-एक महात्मा उधर गये हैं। सम्भव है, वे खत्म हो गये होंगे। चलो हो सके तो उनका दाह कर्म तो कर ही दें !

यह सोच कर कुछ लोग डरते-डरते उस वन की ओर गये तो भगवान् प्रसन्न वदन अपने ध्यान से निवृत्त होकर लौट आ रहे थे। उन्होंने भगवान् को देखा तो उनके आश्चर्य का पार न रहा। वे सोचने लगे-क्या इन महात्मा ने सांप को मार डाला !

एक बोला-मालूम तो यही होता है, वरना किसकी मजाल है कि वहाँ से जिन्दा लौट सके !

दूसरे ने कहा—यह कोई मामूली महात्मा नहीं हैं। यह ज्ञातपुत्र श्रमण महावीर हैं, दिव्य तेजस्वी और दिव्य तपस्वी ! इनका प्रभाव कुछ कम नहीं है। जो न हो जाय सो थोड़ा ! और महात्मा चिउँटी को भी बचा-बचा कर डग रखते हैं। तो सांप को कैसे मारेंगे ?

तीसरे ने इसका समर्थन किया।

चौथा बोला—जरा आगे चल कर ही देख लो कि बात क्या है ?

लोग सांप की केंचुली से भी डरते हैं, तो भला ऐसे भयानक विषधर से डरने में आश्चर्य ही क्या है ? वे आगे बढ़ते गये। बाँबी से कुछ दूर जाकर उन्होंने देखा-साँप पड़ा हुआ है। भय के कारण पसीना छूटने लगा। दूर से पत्थर फैंक कर देखा तो नागराज ने हिलने की भी कृपा नहीं की।

लोगों ने समझा, सांप मर गया है। अब उनकी कुछ हिम्मत बढ़ी और पास में गये। लकड़ी से हिलाया। मालूम हुआ, सांप अभी जीवित है। ज्यों-ज्यों उसे लकड़ी से बाहर निकालने का प्रयत्न किया, वह अपना मुँह बाबी में डालता है। वह जानता है कि उसकी दृष्टि में भी विष है। आँखें खोल कर आदमियों की ओर देखते ही वे भस्म हो जाएँगे।

आखिर लोगों ने कहा—महात्मा की संगति से यह तो देवता हो गया है !

स्त्रियां दूध, दही, शक्कर आदि लेकर उसे पूजने निकल

पड़ीं। फिर क्या था ! हजारों चीटियां इकट्ठी हो गई और सांप को काटने लगीं। पर चण्ड कौशिक ने दैहिक ममता का उत्सर्ग कर दिया था, कायोत्सर्ग कर दिया था। उसने रत्ती भर भी क्रोध नहीं किया। आखिर चण्ड कौशिक मर कर आठवें देवलोक में पहुँचा। संत की वाणी और सगति ने उसका उद्धार कर दिया।

चण्डकौशिक के समय से गोगा नवमी की पूजा का रिवाज चला है।

भाइयों ! तात्पर्य यह है कि क्रोध घोर अनर्थों की जड़ है। यह चाण्डाल से भी बदतर है। चाण्डाल आपके घर में आ जाय तो आप समझते हैं कि घर अपवित्र हो गया और उसे पानी से पवित्र करते हैं। मगर क्रोध रूपी महाचाण्डाल आपके हृदय में आसन जमाता है तो आप क्या करते हैं ? क्या क्षमा के जल से अन्तःकरण को पवित्र बनाते हैं ? भाई यह महाचाण्डाल आत्मा में अविर्भूत होकर आत्मा को नरक का अतिथि बनाता है।

कृष्ण कथा*

क्रोधी और दुष्टों से भले-भले आदमियों को डरना पड़ता है। क्रोधी कंस के कारण ही देवकी छिप-छिप कर गोकुल में जाती थी। गोपूजा का बहाना देवकी के लिए एक अच्छा बहाना था। वहः—

मेवा और मिष्ठान्न खिलावे सुन्दर वसन पहनावे।
लावे खिलौने भांति-भाँति के, फूली नहीं समावे ॥

*कल के 'कृष्णजन्म' के व्याख्यान से आगे का भाग।

कभी दाख, कभी पिश्ते और बादाम ले जाती है। कभी कृष्ण को खेलने के लिए तरह-तरह के खिलौने और कभी वस्त्र ले जाती है। दूसरी ओर कंस का भय उसे सदैव सशंक और व्याकुल बनाये रखता है।

इस प्रकार धीरे-धीरे कृष्ण बड़े हुए। कृष्ण बचपन से ही सभी को प्यारे लगते हैं।

किसी प्रकार कंस को पता चला कि नन्द के यहां एक करामाती लड़का उत्पन्न हुआ है। उसने सोचा-पानी से पहले पाल बांध लेने में ही बुद्धिमत्ता है। यह सोच कर उसने पूतना को प्रलोभन देकर गोकुल भेजा। पूतना ने अपने स्तनों पर जहर लगा लिया और कृष्ण को खिलाने के बहाने अपनी गोद में लेकर दूध पिलाना चाहा। मगर कृष्ण कोई साधारण बालक नहीं थे। उन्होंने पूतना के स्तनों को ऐसे जोर से काटा कि उसने वहीं दम छोड़ दिया।

इस घटना से यशोदा सतर्क हो गई। फिर उसने अपने बच्चे को किसी को देना उचित नहीं समझा। यशोदा कृष्ण को कहीं बाहर जाने देना नहीं चाहती थी, मगर चंचल कृष्ण कब मानने वाले थे? आंख बचा कर भाग खड़े होते थे। यशोदा को पता चलता तो वह खोजने निकलती और जब मिल जाते तो पकड़ कर ले आती थी। कई बार यशोदा ने बालकृष्ण को ऊखल से बाँध दिया, पर जरा-सी देर में ऊखल भी उलट जाता है। इसके बाद उन्हें वृक्ष से बांध दिया, मगर देखते-देखते वृक्ष भी उखड़ने लगे और कृष्ण फिर आजाद होकर खेलने लगे। यह सब

देख कर यशोदा और नन्द मन ही मन प्रसन्न होते हैं और छाती से लगा लेते हैं। नन्द कहते हैं--'यशोदे ! ध्यान नहीं रखती, लाल को कहीं लग जाती तो !'

यशोदा मुस्किरा कर उत्तर देती—तुम्हारा लाल क्या ऐसा-वैसा है ! उसका ध्यान कौन रख सकता है। वही तो दुनिया का ध्यान रखता है !

जिस दिन कृष्ण रस्सी से बांधे गये थे, उसी दिन से उनका नाम दामोदर पड़ा। वे नन्द और यशोदा के अत्यन्त लाड़ले हो गये। क्षण भर के लिए भी उन्हें सूना छोड़ना यशोदा को अभीष्ट नहीं था। फिर भी—

माता दूध गरम जब करती,
हरि तब आग बुझावे ।
माई जबै विलोवे माखन,
काढ़ काढ़ कर खावे ॥

पूतना की मृत्यु से कंस ने समझ लिया कि नन्द-किशोर साधारण बालक नहीं। उसकी उपेक्षा करना संकटजनक होगा। अतएव उसे मारने के लिए उसने एक बार शकटासुर को भेजा। मगर कृष्ण ने उसका भी वध कर दिया।

एक बार कृष्ण ग्वाल-बालों के साथ जङ्गल में निकल पड़े। वहां उन्होंने एक भयंकर सांप को देखा। सब लड़के सांप को देखकर भागने लगे। परन्तु कृष्ण ने उसकी थुथरी पकड़ ली।

सांप बल खाने लगा - ऐंटने लगा । कृष्ण उसे घसीटते--घसीटते गांव की ओर आने लगे । नन्द और यशोदा को खबर मिली तो उनके पैरों तले की जमीन खिसक गई । उनकी छाती धड़कने लगी । घबराये हुए उस ओर दौड़े । कृष्ण को सांप पकड़े देखकर कहा – 'अरे, यह क्या कर रहा है ?'

कृष्ण ने निर्भयता के साथ मुस्कराते हुए कहा – मां, तुम्हारी दही बिलौने की रस्सी बार-बार टूट जाती है । इसलिए यह मजबूत रस्सी ले आया हूँ । लो, इसे सम्भालो मां !

बहुत अनुनय करने पर कृष्ण ने सांप को छोड दिया ।

समय हो चुका है । आगे का वृत्तान्त फिर सुनाने की भावना है ।

३१-८-४५